VOL. IV PART-V OCTOBER 1998

JOTI JOURNAL

न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान

उच्च न्यायालय जबलपुर 482007

JUDICIAL OFFICERS' TRAINING INSTITUTE

HIGH COURT OF MADHYA PRADESH

JABALPUR-482 007

☎ 325995

संपादकीय

निरंजन बनना है

माननीय पूर्व न्यायाधिपति श्रीमान के.के. वर्मा महोदय ने इस संस्था के 1997 के चयनित व्यवहार न्यायाधीशों के प्रशिक्षण में प्रबोधन समय में जो विचार; प्रक्रिया संबंधी विधि विषय में प्रकट किए थे उन्हें उन्होंने ही लिपिबद्ध किए थे। अत्यन्त उपयोगी, व्यवहारिक व प्रासंगिक हैं। उन्हें संपादित करके संस्था की इस पत्रिका में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जिला न्यायाधीश श्री मांगीलाल कसानिया जी ने भी पूर्व में एक लेख के द्वारा ऐसे ही मार्गदर्शनात्मक विचार भेजे हैं जिन्हें आने वाले अंक में प्रकाशित करने की योजना है। सतत् प्रयन्त रहेगा कि पत्रिका के माध्यम से न्यायिक अधिकारी बंधुओं को विविध, बहुआयामी, उपयोगी जानकारी का विवरण उपलब्ध हो। इस अंक का आकार तो लगभग 100 पृष्ठों से कम नहीं हो पाता लेकिन मर्यादाओं के कारण पृष्ठों को सीमित करना होता है।

मर्यादा तो समुद्र भी पार नहीं करता न नभ ने ऐसा कभी सोचा। निश्चित ही हम आप इतने गौण हैं कि मर्यादा पार करने की कल्पना नहीं कर सकते। लेकिन प्रश्न यह है कि हमारी आस्थाऐं सरिता से सागर और सागर से महासागर बनने की है या सरिता से सरोवर एवं सरोवर से तालाब तथा तालाब से डबका बनने की है। सरिता ने अपना प्रवाह नहीं थामना है, हवा ने बहना अवरुद्ध नहीं करना है, सूर्य ने अपने प्रकाश को बन्दी नहीं बनाना है, और वर्षा ने बरसने से नहीं रुकना है। भूमि को अपनी उर्वराशक्ति क्षीण नहीं करना है और न उसे बंजर धरती बनना है, प्रकाश ने अपना विस्तार खोना नहीं है। यदि प्रकृति के ये पंचमहाभूत नैसर्गिक अनुक्रम में गतिमान गतिशील व सक्रिय है तो हम प्रकृति पुत्र ऐसे ही क्यों न हों।

मनुष्य यदि सृजनशीलता का पर्याय है तो हममें न्यायाधीश के रूप में सृजनशीलता के मूल तत्व अवश्य होना चाहिए। जितनी सृजनशीलता, उर्वरता, कृतित्व हम विकसित करेंगे उतने ही सफल सर्जक व सृष्टा हम होंगे। ऐसा तब हो सकेगा जब हम अपना आत्म विश्वास बनाए रखेंगे। अपने प्रति हमें विश्वास व्यक्त करना होगा व ऐसा विश्वास हमारे में तब ही आ सकेगा जब हमारा लक्ष्य, साधन व साध्य शुचितापूर्ण होंगे।

हम आप यह भी अनुभव करते हैं कि समर्पणभाव के बिना यह सब संभव नहीं है तथा अपने में सुप्तरूप से ही सही कर्म के प्रति निष्ठा, भक्तिभाव, समर्पितता का अभाव अवश्य है। समाज के पढ़े लिखे हम न्यायाधीश सबसे ज्यादा जाग्रत, चेतनायुक्त व सावधान होना चाहिए। सामान्यतः यह पूछा जाता है कि न्यायिक अधिकारी सतही तौर पर सरसरी रूप से दिखावटी या विचारहीन रूप से कार्य क्यों करते हैं। उनका आशय समष्टियुक्त रूप से है व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं।

हमें अपनी कार्यपद्धति में परिवर्तन अवश्य लाना होगा। आज भी सर्व साधारण व्यक्ति न्यायपालिका के प्रति अगाध, अथाह विश्वास रखता है तो उस विश्वास के प्रति हमें खरा उतरना होगा। हमारे से वरिष्ठ जनों की केवल यही अपेक्षा है कि न्यायिक कार्य को समग्र रूप से विचार करके विधि प्रावधानों को ध्यान में रखकर तथा प्रकरण का अध्ययन करके करें एवं व्यवहार में शिष्टता हो।

प्रयत्न करना है। प्रयत्नार्थी परमेश्वरः। परिचित वरिष्ठ साहित्यकार श्री नर्मदाप्रसाद जी उपाध्याय के ललित निबन्धों में एक वाक्य आया है। बड़ा सुसंगत सारगर्भित उद्‌बोधक है जो इस प्रकार है :

"साधना तो समर्पण में डूबी निस्सीम तल्लीनता है। इस तल्लीनता के क्या तट और क्या छोर? निस्पृह हो जाना बहुत कठिन है, लेकिन यदि हो जाओ तो निरंजन (परिपूर्ण, निर्लिप्त) हो जाओ।"

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

●

VENERATIONS

Hon'ble Shri Justice D.P.S Chouhan, Administrative Judge of the M.P. High Court, Jabalpur has been appointed as the Chairman, Judicial Officers Training Institute, M.P. High Court, Jabalpur.

The Institute felicitate the occasion.

निर्भिज्ञ बनो

व्यवहार न्यायधीश वर्ग–2 के 1997 के चयनित अधिकारियों के चतुर्थ दल के प्रशिक्षण का द्वितीय चक्र एवं 7 नवनियुक्त व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2 के प्रशिक्षण का प्रथम चक्र दिनांक 03-8-1998 से 10-8-1998 की अवधि में संपन्न हुआ।

सत्र अनावरण के प्रथम भाष्य में माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्रीमान ए.के. माथुर महोदय की गरिमामयी उपस्थिति थी। माननीय महोदय ने अपने बोधप्रद मार्गदर्शन के रूप में कहा कि नवनियुक्त न्यायिक अधिकारीगण न्यायिक संस्था से जुड़े हैं जो अपनी निष्पक्षता व ईमानदारी के लिए जानी जाती है। अतः उनसे यह अपेक्षा है कि वे इस संस्था की उक्त प्रतिष्ठा को उन्नत एवं सक्रिय रखने में सहभागी होंगे। जनता की न्याय के प्रति अपेक्षा की संतुष्टि का सबसे निकट व प्रत्यक्ष माध्यम व्यवहार न्यायाधीश को बताकर कहा कि यदि वे जन–जन के प्रति न्यायनिष्ठ नहीं रहेंगे तो उनका कोई स्थान न्यायपालिका में नहीं हो सकता व उन्होंने स्वयं को न्यायदान के इस कार्य से पृथक कर लेना चाहिए। माननीय श्री माथुर महोदय ने कहा कि न्यायपालिका की सबसे बड़ी उपलब्धि व विशेषता यह है कि प्रत्येक स्तर के प्रत्येक न्यायाधीश का कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता विभाग की ओर से होती है। अतः किसी भी भय, द्वेष या राग लोभ से मुक्त रहकर कार्य करना चाहिए। सर्वसाधारण व्यक्ति को न्यायपालिका के प्रति असीम आस्था, विश्वास व श्रद्धा है इसलिए न्यायिक अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह भी उक्त विश्वास के प्रति सत्यनिष्ठ व समर्पित रहे। शासन द्वारा अधिकाधिक सुविधाएं भी प्रदान की गई हैं एवं सेवा शर्तों में भी पर्याप्त सुधार किया गया है इसलिए भी कर्त्तव्य निर्वाह में उपेक्षा करना अपेक्षित नहीं है।

श्रीमान माथुर महोदय ने अपने विचारों को चिर परिचित सहज चिंतन की गति देते हुए यह कहा कि संस्था की गरिमा में प्रत्येक न्यायिक अधिकारी का सहयोग होता है। संस्था की प्रतिष्ठा उन्हीं के कारण बढ़ती है या अवनत होती है। संस्था की गरिमा न्यायिक अधिकारीगणों के आचार विचार से होती है। अतः उन्होंने अपने आचरण के प्रति सदैव सतर्क रहना है व आत्म विश्लेषण करते रहना है। कार्य तीव्र गति से करने की अपेक्षा करते यह अभिमत प्रस्तुत किया गया कि न्यायालय में समय पर आकर समय पर कार्य करना होगा तथा बिना विलंब के तथा निर्धारित कार्य, निर्धारित समय पर अवश्य करने की प्रकृति व स्वभाव विकसित

करें। न्यायालय का नियमन न्यायिक अधिकारीगणों को करना है। नियमन की लगाम केवल उन्हें ही थामना है। वह रास किसी अन्य के हाथ में देकर स्वयं दूसरों के हाथ में खिलौना नहीं बनना है। लगाम अपने हाथ में रखकर आगे बढते समय व्यवहार में अशिष्टता या दंभ की बू नहीं आने देना है क्योंकि न्याय रथ को गतिमान रखने में अधिवक्तागण, कर्मचारीवृंद एवं पक्षकारगण का भी सक्रिय सहयोग होता है। अतः न्यायालय के सत्र संचालक की भूमिका भी न्यायिक अधिकारी को सफलतापूर्वक निभाना है।

न्यायालय में एवं न्यायालय के बाहर सामाजिक गतिविधियों में न्यायिक अधिकारीगणों का आचरण पारदर्शी हो। अवांछनीय व्यक्तियों के साथ किसी भी रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संपर्क नहीं होना चाहिए।

माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्रीमान माथुर महोदय ने अपने विचारों का समापन यह कहकर किया कि किसी से भूल होना संभव है लेकिन दुर्भावनापूर्वक गलती भूल नहीं हो सकती है। **निर्भिज्ञता का गुण केवल उन्हीं व्यक्तियों में हो सकता है जो ईमानदारी सत्यनिष्ठा से व निःस्वार्थ रूप से कार्य करेंगे।** हर एक का अपना आचरण व्यवहार होता है तथा मनोबल होता है। **उस व्यक्ति का मनोबल ऊँचा होगा जो स्वयं को निर्भिज्ञ बनाए रखेगा।**

सत्र के समापन अवसर पर माननीय प्रशासनिक न्यायाधिपति महोदय एवं न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान समिति के अध्यक्ष श्रीमान एस.के. दुबे महोदय ने अपनी प्रेरणादायी उपस्थिति में विचारों को अभिव्यक्ति दी तथा कहा कि न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य ही यह था कि संस्था के माध्यम से न्यायिक अधिकारीगणों को उत्कृष्ट प्रशिक्षण दिया जा सके जिससे म.प्र. के न्यायिक अधिकारीगण भी अन्य प्रदेशों की तुलना में गुणवत्ता युक्त रूप से तथा शीघ्र व सुलभ न्यायदान में सहयोग कर सकें। प्रशिक्षण के उद्देश्य की ओर लक्ष्य करते हुए माननीय श्री दुबे महोदय ने यह भी कहा कि ईश्वर की अनुकंपा से न्यायदान करने का जो अवसर मिला है उसका निर्वाह सर्वसाधारण के न्यासी की भूमिका को ध्यान में रखकर करें एवं व्यक्तिगत हित–लाभ व सुविधायुक्त जीवन यापन मात्र में नष्ट न करें।

GOOD JUDGMENT COMES FROM EXPERIENCE AND EXPERIENCE COMES FROM GOOD PRACTICE. HAVE PRACTICE.

ADDRESS ON THE LOK ADALAT INAUGURATION AT GWALIOR ON 29TH AUGUST, 1998

by Hon'ble Justice Shri D.M. Dharmadhikari,

Chairman H.C.L.S.C. now Executive Chairman M.P.S.L.S.A.

Hon'ble Justice Dr. A.S. Anand,
Executive Chairman, National Services Authority.

Hon'ble Chief Justice A.K. Mathur,
Patron-in-Chief, High Court Legal Services Committee.

Hon'ble Judges, Lawyer Friends, and Hon'ble Citizens present on this occasion.

We are happy to find amongst us Hon'ble Justice Dr. A.S. Anand, in his official capacity as Executive Chairman of National Legal Services Authority. His presence has inspired all of us, to gear up our efforts in making this Lok Adalat a success.

The experiment of Lok Adalat at High Court level in Madhya Pradesh is recent. After constitution of the High Court Legal Services Committee under my Chairmanship, the First Lok Adalat was held on 25th of April, 1988 at Jabalpur main seat of the High Court. Since it was maiden Lok Adalat, we could settle amicably, with the help of parties and their lawyers about 100 cases.

In my humble opinion, it is not important as to how many cases we could settle; what is more important is whether we could create a proper climate and psyche of the litigating public to motivate them to patch up their differences by mutual talks and negotiations.

In Bible, there is a gospel which advics : "Agree with thine adversary quickly, whiles thou art in the way with him". Our father of the Nation, Mahatma Gandhi had also a brief stint as a Barrister in South Africa before he plunged into public life. In that short period in legal profession, he through out by his conduct set an example that a lawyer can also in his profession serve the society by encouraging the party he represents to settle his differences with the opposite party by mutual talks and negotiations. With that experience in legal profession all his life he had been insisting on spiritualisation of legal profession as he has been trying till his sudden end of life to spiritualise politics. Lok Adalat is one such attempt to spiritualise the legal and judicial system of dispensation of justice.

When there is a difference or dispute between parties there are three options. The first is to fight with the adversary to the finish and in that process suffer the torturous process in law courts. The second is to suffer the injustice, if there be any, committed by the opposite party, thinking that to fight against it would not bear fruit within a reasonable period. Third option, which the new methodology of Lok Adalat offers, is to try to approach the opposite party to sort out and settle amicably the differences with him. Of the above mentioned three

options the last option is the best, because in choosing it the two parties involved, try to look at the dispute from each others point of view and make a joint effort to find out a via media or a solution which would satisfy to an appreciable extent both of them. This involves some 'give and take' on part of both the parties and results in restoration of congenial relationship between them. For the third option, therefore, a workable remedy has to be provided. This amounts to spiritualisation of process of dispensation of justice where on party tries to give justice to the other party through the medium of Lok Adalat.

It is necessary that our Law Courts and the legal process should make available to the parties the third option mentioned above.

On this occasion, I would also like to bring to the notice of Hon'ble Executive Chairman of the National Legal Services Authority some practical difficulties which we experience in conducting Lok Adalat at the High Court level. At the High Court level, Lok Adalats are being organised mainly for the pending cases which, to some extent, can be handled and disposed of by mutual settlement in the regular court itself. That is not to say that such conciliation sessions are not helpful if they are periodically held in the High Court. We experience that in the provisions of the Act there is a lacuna. There is no procedure laid down so that fresh cases, which may be instituted on the judicial side to involve the parties in a long course of litigation, be directly entertained in the Lok Adalat for their satisfactory disposal in mutual interest of both the parties. If the parties seek a reference of a noticed but the mutual negotiations ultimately fail, there is nothing in the provisions of Legal Services Authority Act that the party approaching and having spent unsuccessfully some period in Lok Adalat, can institute the same case in the regular court without bar of limitation obstructing its normal course.

The second discouragement to reference of fresh cases to Lok Adalat is that the Lok Adalat is unable to grant any interim relief. The Lok Adalat at the most, soon after the institution of the case, can send a notice to the opposite party to appear for negotiations and settlement. Some mechanism has, therefore, to be worked out so that as and when necessary the case instituted in the Lok Adalat directly may be referred to the regular Court and vice-versa depending upon the nature of the case and request of the parties. I also take this opportunity to make a suggestion that provision for separate Legal Services Sub Committee be made in High Court where the High Court is functioning at more than one place. One common committee for High Court for all the Benches has to face many constraints in conducting Lok Adalat programmes. We expect the Hon'ble Chairman to give valuable suggestions and advice to make the legal provisions more practical and effective.

I thank all the dignatories, the member of the Legal profession and citizens present on this occasion and request them to extend full support and encouragement to the Lok Adalat movement.

Thank you all.

●

प्रक्रिया विधि संबंधि विवरण

के.के. वर्मा
पूर्व न्यायाधिपति

वाद–पत्र का प्रारंभिक परीक्षण

1. वादी को अपना वाद पत्र न्यायालय में न्यायाधीश के समक्ष या न्यायाधीश के लिखित आदेश से इस हेतु प्राधिकृत न्यायालयीन कार्मचारी के समक्ष न्यायालयीन कार्य के लिये निर्धारित घंटों में प्रस्तुत करना चाहिए।(देखें धारा 26, आदेश–4, नियम–1, उपनियम (1), तथा नियम 37, नियम एवं आदेश (सिविल))

2. न्यायालयीन कार्य करने के समय के बाद वाद–पत्र न्यायाधीश के निवास स्थान पर भी प्रस्तुत किए जाने पर न्यायाधीश द्वारा लिए जा सकते है। (देखें ए.आर. आर. 1925 मद्रास 201, ए आय.आर. 1937, बॉम्बे 25 एवं 1938 एन.एल.जे. 44)

3. इस प्रक्रिया के बाद वाद का प्रारंभिक परीक्षण दो अवसरों पर किया जावेगा। पहले अवसर पर न्यायाधीश को, या उसके द्वारा प्राधिकृत न्यायालयीन कर्मचारी को यह परीक्षण उसी दिन करना चाहिये। यदि परिस्थिति ऐसी हो कि उसी दिन परीक्षण संभव न हो तो वादी या उसके वकील को उक्त परीक्षण के लिए एक अन्य तारीख, जो आगामी दो कार्य दिवस के बाद की न हो और उस समय एक आर्डरशीट में लिखकर विनिश्चित कर सूचित करना चाहिए।

4. प्रथम प्रारंभिक परीक्षण में निम्नलिखित 11 बिन्दुओं पर नियम एवं आदेश सिविल के नियम 10,12,14(1),(2), 15(1) तथा 16 से 38 और 39(2) को देखकर ध्यान देना चाहिए :–

   1. वाद के मूल्यांकन के अनुसार ठीक कोर्ट फी स्टाम्प पर वादपत्र लिखा गया है, या ठीक मूल्य के चिपकाने वाले कोर्ट–फी टिकिट लगाये गये हैं।
   2. क्या वाद पत्र पर सत्यापन (व्हेरीफिकेशन) के उपर वादी/वादीगणों के हस्ताक्षर हैं (देखें आदेश–6, नियम–14 व्य.प्र.सं.) और उक्त हस्ताक्षर के नीचे सत्यापन आदेश–6 नियम 15(1) (2) और (3) के अनुसार हुआ है।
   3. क्या वादपत्र आदेश 7 के नियम 1 से 8 के अनुसार लिखा गया है।
   4. क्या भूमि का कब्जा वापस पाने के मामले में वादपत्र में वादग्रस्त भूमि का पूर्ण वर्णन किया गया है। याने यदि सरकारी लेखों में वादग्रस्त भूमि को कोई खसरा नं. या प्लाट नं. दिया गया हो तो उस नंबर का तथा उस भूमि के क्षेत्रफल का उल्लेख हुआ है, या ऐसे किसी खसरा नंबर या प्लाट नंबर

में से किसी खंड के लिए दावा हुआ हो तो उस अंश के निम्नलिखित विवरण दर्शित नाप के आधार पर बनाए गये नक्शा वादपत्र के साथ संलग्न है।

विवरण

1. विवादग्रस्त भूमिखंड का क्षेत्रफल
2. संबंधित सर्वे नंबर या प्लाट नंबर में विवादित भूमिखंड की स्थिति, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम में या केन्द्र या कोने में
3. भूमिखंड की चारों भुजाओं की लंबाई/चौड़ाई (देखें आदेश–7 नियम– 3 व्य.प्र.सं.)
5. क्या वादपत्र के साथ उसकी उतनी सत्यप्रतिलिपियाँ हैं, जितने प्रतिवादी हैं, और उन प्रतिवादियों की उपसंजाती के उचित प्रोसेस फीस संदाय हुई है (देखें आदेश-7, नियम-9 उपनियम(1) और उपनियम(1-क) व्य.प्र.सं.)
6. क्या वादपत्र के साथ प्रस्तुत डाकुमेन्ट्स के साथ ऐसी लिस्ट पेश है जिसमें उन डाकुमेन्ट्स का पूर्ण विवरण है (आदेश–7, नियम–9, उपनियम (1)
7. क्या वादपत्र के साथ वादी ने अपना रजिस्टर्ड पता प्रस्तुत किया है (देखें आदेश–6, नियम 14–क व्य.प्र.सं.) तथा नियम 113(नियम एवं आदेश सिविल)
8. यदि वादी अवयस्क या असंतुलित मस्तिष्क का है, उसके वादमित्र (नेक्स्ट फ्रेन्ड)के विषय में तथा प्रतिवादी अवयस्क है तो उसके वाद संरक्षक(गार्जियन फार द सूट, संक्षेप में जी.ए.एल.) की नियुक्ति के विषय में, आदेश 32 नियम 1,3,4,5 तथा 15, व्य.प्र.सं. का पालन हुआ है?

   (अवश्य देखें नियम 111 से 115 नियम व आदेश सिविल)
9. क्या वाद न्यायालय के "पिक्यूनरी" (आर्थिक) तथा (भौतिक) क्षेत्रीय अधिकारिता के अन्तर्गत है।
10. क्या दावा (क्लेम) प्रथम दृष्टया (ॲपरंटली) समयावधि में प्रस्तुत हुआ है।
11. क्या वकील पत्र को वकील ने नियमोचित ढंग से स्वीकार व पृष्ठांकित किया है और अनपढ़ पक्षकारों के वकील पत्र पर अटेस्टेशन हुआ है? (देखें आदेश–3, नियम–4, उपनियम(1),(2),(4) व्य.प्र.सं.)

5. जब वाद पत्र के प्रथम प्रारंभिक परीक्षण में यह समाधान हो जावे कि सब ठीक है तो न्यायाधीश या प्राधिकृत न्यायालयीन कर्मचारी वादपत्र पर यह कथन

पृष्ठांकित करेगा और उसके नीचे हस्ताक्षर करेगा और तारीख लिखेगा।

वादी(नाम)...../एडवोकेट(नाम).....द्वारा तारीख .....को प्रस्तुत वादपत्र ठीक ढंग से लिखा गया है, वाद प्रथमदृष्टया समयावधि में है और वादपत्र पर समुचित कोर्टफीस है (देखें नियम–39 (1) नियम एवं आदेश सिविल)

उस दिन की आर्डर शीट में उपयुक्त परीक्षण का जिक्र करके वादी/अभिभाषक को एक तारीख दी जावेगी जिस पर न्यायालय द्वारा वादपत्र स्वीकृति करने या न करने की कार्यवाई अपेक्षित है इस आर्डरशीट पर न्यायाधीश के हस्ताक्षर होंगे।

6. बढ़ाई गयी तारीख पर न्यायाधीश वादपत्र का इस दृष्टि से अतिरिक्त परीक्षण करेंगे कि वादपत्र (पंजीयन के लिए) और अग्रिम सुनवाई के लिए स्वीकृत किए जाने योग्य है या नहीं। यह कर्त्तव्य इसलिए है कि यह बात प्रारंभिक अवस्था में वादपत्र के प्रकथनों पर प्रथम दृष्टया देखी जा सके कि वाद (1) उनके न्यायालय के क्षेत्राधिकार में है या अन्य किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार में प्रस्तुत होना था और उर्पयुक्त दूसरी स्थिति में वादपत्र आदेश–7 नियम–10 (व्यवहार प्रक्रिया संहिता) के अन्तर्गत वादपत्र वादी को उपर्युक्त न्यायालय में प्रस्तुत करने के लिए वापस किया जा सके।

7. यदि वाद जिस न्यायालय में वादपत्र प्रस्तुत हुआ हो उसी न्यायालय में ही सुनवाई के योग्य पाया जाए तो भी यह वादपत्र के प्रकथनों का परीक्षण किया जाना अभिप्रेत है कि कहीं वादपत्र आदेश–7 नियम–11(व्यवहार प्रक्रिया संहिता) के चार अनुबंधों में वर्णित दोषों के कारण अस्वीकृत तो नहीं किये जाने का पात्र है।

8. यदि वादपत्र आदेश–7 के नियम 10 या 11 (व्यवहार प्रक्रिया संहिता) के अंतर्गत वादी को लौटाए जाने या अस्वीकृत किए जाने का पात्र नहीं दिखता तो न्यायालय यह आदेश पारित करेगी कि वादपत्र स्वीकृत किया जाता है, वाद का (न्यायालय की व्यवहारवाद पंजी) में पंजीयत हो इस आदेश के बाद दो कार्यदिवसों में वाद का व्यवहारवाद पंजी में पंजीयन होना चाहिए।(देखें नियम 41 नियम व आदेश सिविल तथा आदेश 4 नियम 2 व्यवहार प्रक्रिया संहिता)

9. उर्पयुक्त आदेश के साथ न्यायालय प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित होकर दावे का उत्तर देने के लिए सूचित करने के लिए समंस निकालने का आदेश देगा (देखें आदेश 5 नियम 1 से 6 व्य.प्र.सं. तथा नियम 42से 45 तथा नियम (1) नियम व आदेश सिविल)

निर्णय लेखन एवं आज्ञाप्ति (डिक्री) बनाना

1. निर्णय–लेखन : वाद की (सुनवाई हेतु) स्वीकृति के बाद वादी और प्रतिवादी सुनवाई के अवसर का उपयोग करता है–कि प्लीडिंग पर वाद प्रश्न बनाकर "सेटलिंग डेट" पर साक्ष्य लेने की तारीख तय कर, उभय पक्ष को अपनी–अपनी साक्ष्य प्रस्तुत करने का अवसर दें, उस साक्ष्य पर तथा पक्षकारों के अभिभाषकों या पक्षकारों को तर्क सुनने के बाद सब विवादित बिन्दुओं पर विनिश्चय करना (ट्रायल) का अंतिम पड़ाव, न्यायालय द्वारा निर्णय लेखन की प्रक्रिया से पार किया जाता है न्यायालय के सब कार्यों में यह न्यायिक प्रक्रिया सबसे महत्वपूर्ण है।

2. व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा 2(9) में "निर्णय" शब्द की परिभाषा यह है :– "निर्णय से न्यायाधीश द्वारा डिक्री या आदेश के आधारों का कथन अभिप्रेत है।" आगे धारा 33 कहती है, "न्यायालय मामले की सुनवाई हो चुकने के बाद निर्णय सुनाएगा और ऐसे निर्णय के अनुसरण में डिक्री होगी।

3. व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 20 में निर्णय–लेखन एवं डिक्री बनाने के नियमों का उल्लेख है। आदेश 20 के नियम 1 से 5, 5क तथा 6क (1),6 ख निर्णय की प्रक्रिया से संबंधित है। (शेष याने नियम 7 से 19 डिक्री बनाने के विषय में है।) अंतिम नियम 20 निर्णय और डिक्री की नकलों को पक्षकारों को देने के विषय में हैं। नियम एवं आदेश सिविल के नियम 151 से 164 निर्णय लेखन के विषय से संबंधित है।(नियम एवं आदेश, सिविल के नियम 165 से 178 डिक्री बनाने के विषय में है और नियम 180 से 183 वादव्यय के निर्धारण और देनगी से संबंधित है)

4. आदेश 20 नियम 4(1) और (2) इस प्रकार हैं :– उपनियम (1) कहता है कि लघुवादों के निर्णयों में अवधार्थ प्रश्नों (निपटाये जाने वाले प्रश्नों) और उन पर निष्कर्षों से अधिक लिखने की कानूनी आवश्यकता नहीं है। (यहां यह बताना आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने अपने कई निर्णयों में न्यायिक आदेशों में दिए गए निष्कार्षों के कारण भले ही संक्षेप में–अभिलिखित करने की आवश्यकता को सर्वोपरि कर्त्तव्य माना है) उपनियम (2) के अनुसार अन्य (नियमित या सामान्य क्षेत्राधिकार वाले) न्यायालयों के निर्णयों में मामले का संक्षिप्त कथन अवधार्थ प्रश्न (जो उभयपक्ष की सुनवाई के बाद लिए गए निर्णय में पूर्व में बनाए गए वादपक्ष ही हैं) उनका विनिश्चय और ऐसे विनिश्चय के कारण अर्न्तविष्ट होंगे।

5. आदेश 20 नियम 5 (व्य.प्र.सं.) तथा आदेश 14 नियम 2 (व्य.प्र.सं.) साथ–साथ

पढ़ने से यह सामान्य कानूनी नियम बनता है कि न्यायालय को सुनवाई के बाद में सभी वाद प्रश्नों पर निष्कर्ष देना चाहिए। उक्त कानूनी उपबन्धों में वर्णित अपवाद स्थिति जब तब बिलकुल सटीक न बैठे उस अपवाद का सहारा नहीं लेना चाहिए।

6. निर्णय अपेक्षित प्रारूप के विषय में नियम एवं आदेश सिविल के नियम 154 के उपनियम (3) और (4) में निर्देश है जिनको पालन करने से निर्णय देने के उद्देश्य (देखें उपनियम–1) की पूर्ति होती हैं। प्रत्येक वाद प्रश्न के सामने उस पर पर्याप्त और स्पष्ट उपपत्ति (फाईडिंग) देना चाहिए। (देखें नियम 155 (1) नियम एवं आदेश (सिविल) नियम 154 (1) में साक्षी की छानबीन करने की प्रक्रिया (फाईलिंग) को समझाया गया है। नियम 155 (1) (6) (7) और नियम 154 (11) को साथ–साथ पढ़ना चाहिए।)

7. सब वादपक्षों पर निष्कर्ष देने के बाद, निर्णय की अंतिम कंडिका में निर्णय का आदेशात्मक अंश लिखा जाएगा। इस विषय पर आदेश 20 नियम 6–क (व्य. प्र.सं.) एवं नियम एवं आदेश सिविल के नियम 154 (8) और नियम 156 तथा नियम 157 की हिदायतों का पालन करना चाहिए।

8. उर्पयुक्त विवरण में उल्लिखित कानूनी उपबन्धों को मनोयोग प्रयासों से कई बार पढ़कर, समझकर आत्मसात करना चाहिए। व्यवहार प्रक्रिया संहिता पर किसी लेखक की टीकात्मक पुस्तक की सहायता से आदेश 20 के सभी नियमों एवं आदेश 14 के नियम 2 को समझना चाहिएं नियम एवं आदेश सिविल के नियमों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

9. अब यह बताया जाएगा कि निर्णय लिखने के पहले क्या करना चाहिए और उस प्रक्रिया में किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

10. अंतिम बहस के बाद मामले की फाईलों में कागज नियमानुसार लगे रहना चाहिए और प्रमाणित दस्तावेजों पर प्रदर्श क्रमांक अंकित और हस्ताक्षरित रहने चाहिए। मामले की जिस कानून या जिन कानूनों को देखना पड़ सकता है उन पर लिखी टीकायें तथा उभयपक्ष के अभिभाषकों द्वारा पेश की गई रूलिंग्स का उर्पयुक्त फाइलों के साथ रखकर फाइलों को अध्ययन करना चाहिए। इस प्रक्रिया में प्रत्येक वादपद के उपलब्ध साक्ष्य की छानबीन (मार्शलिंग) करने के बाद अपने जीवन के अनुभव के आधार पर साक्ष्य की विश्वसनीयता और अविश्वसनीयता की परख करनी चाहिए। यह परख एक प्रज्ञावान (प्रूडेंट) आदमी के दृष्टिकोण से होनी चाहिए। साक्ष्य की परख (एप्रीसिएशन) के विषय में साक्ष्य अधिनियम

1872 की टीका में "प्रूव्हड" "डिस्प्रूव्हड" और "नाट प्रूव्हड" पर न्यायालयों की विवेचना के आधार पर टिप्पणियों को समझ लेने से कार्य आसान हो जाएगा।

11. जब वादपदों पर तथ्यों पर क्या निष्कर्ष निकालना है और उन निष्कर्षों के लिए क्या कारण देने हैं और कानूनी प्रश्नों पर क्या निष्कर्ष देना है और मामले का अंतिम निर्णय क्या होगा, यह सब मन में विनिश्चित हो जावे तब ही निर्णय का लेख आरंभ करना चाहिए। (देखें नियम व आदेश (सिविल) के नियम 154 (12) का पहला वाक्य)

12. मन में निर्णय लेने के लिए किए गए और विचार करने के दौरान संक्षिप्त नोट लिखने चाहिए अन्यथा निर्णय लेखन के समय महत्वपूर्ण बिन्दु और कारण भूले जा सकते हैं।

13. निर्णय अपने हाथ से लिखना चाहिए। यदि पूरा निर्णय अपने हाथ से लिख लें तो उसी निर्णय को सुना सकते हैं या टाइप कर सकें या न्यायालय के लिपिक से टाइप करवाने की सुविधा हो तो लिखा निर्णय टाइप करवा लें। लिपिक को लांगहैंड विधि से निर्णय नव नियुक्त और कम अनुभव वाले न्यायिक अधिकारियों को नहीं लिखवाना चाहिए बल्कि अपने हाथ से लिखे निर्णय को लिपिक से टाइप करवा लेना चाहिए। न्यायाधीश अधिक अनुभव प्राप्त करने पर लांगहैंड विधि से निर्णय टाइप करवाने की सोचें पर ऐसा करते समय नोट्स व फाइलों के कागज बराबर पढ़ कर ही डिक्टेशन दें।

14. निर्णय लिखने या टाइप करने या करवाने के समय शीर्ष विभाग की पहली पंक्ति में न्यायालय का विवरण जैसे न्यायालय प्रथम व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2 या "न्यायालय प्रथम व्यवहार न्यायाधीश के अतिरिक्त न्यायाधीश" लिखें। दूसरी पंक्ति में न्यायाधीश (नाम) लिखें। तीसरी पंक्ति में वाद के अनुक्रम व वर्ष क्रमांक लिखें और उसकी पंक्ति में ब्रेकेट में वाद के प्रस्तुत होने की तारीख अवश्य लिखें। इस तारीख के सामने रहने से समयावधि के प्रश्न पर विचार करने में त्रुटि की संभावना नहीं रहेगी। साथ ही न्यायाधीश के ज्ञान में रहेगी कि वाद कारण के उत्पन्न के कितने समय बाद वाद प्रस्तुत हुआ, विलेख दावा प्रस्तुती के पहले या बाद में अस्तित्व मे आए और गवाहों के बयान लेने की प्रक्रिया दावा दायरी के कितने वर्ष बाद प्रारंभ हुई और समाप्त हुई। इन परिस्थितियों में साक्ष्य की परख (एप्रिसिएशन) में सहायता मिलेगी।

15. फिर उभयपक्ष का पूरा विवरण देना चाहिए। पक्षकारों की उम्र, धंधे का वर्णन पूर्ण रखना चाहिए और उनके पते रजिस्टर्ड पते के आधार पर लिखे जाना

चाहिए। इन पतों के नीचे एक लाइन में व्यवहारवाद का क्षेत्राधिकार का मूल्यांकन अवश्य लिखें।

16. फिर "निर्णय" शब्द लिखकर उसके नीचे ब्रेकेट में (आज तारीख .....को खुले न्यायालय में सुनाया गया है) लिखना चाहिए। (या आज दिनांक.....को पारित) ऐसा लिखें।

17. फिर निर्णय की पहली कंडिका में वाद में मांगी गई सहायताओं को वादपत्र की अंतिम कंडिका में मांगी गई सहायताओं के आधार पर लिखें। अचल संपत्ति के मामलों में सम्पत्ति का (और यदि कोई उसका नक्शा वादपत्र में संलग्न हो तो उसके हवाले से) पूर्ण विवरण दें।

18. अगली दो कंडिकाओं में परिचयात्मक तथ्यों और प्लीडिंग आदेश 11 व 12 व अन्य विधि से स्वीकृत तथ्यों का संक्षिप्त में उल्लेख करना चाहिए।

19. फिर बाद की कंडिकाओं में वादपत्र पर आधारित वाद विवरण लिखना चाहिए। फिर अलग कंडिकाओं में प्रतिवादपत्र पर आधारित बचाव का विवरण लिखना चाहिए। इस विषय में नियम एवं आदेश सिविल के नियम 154 के उपनियम 4 की हिदायतों का पालन करें।

20. फिर वादपदों को बाईं तरफ "कालम" के रूप में एक के नीचे एक लिखें व शीर्ष में वादपद लिखें। फिर जगह छोड़कर – वाद शब्द की दाहिनी तरफ निष्कर्ष या फाइन्डिंग शब्द लिखें। फिर प्रत्येक वाद प्रश्न के दाहिने तरफ "निष्कर्ष" शीर्ष के नीचे उस वाद प्रश्न पर अपना निष्कर्ष लिखें। इन निष्कर्षों को सही ढंग से लिखने के निर्देश नियम एवं आदेश सिविल के नियम 155 के उपनियम 1 में हैं जिनका पूरा पालन करें।

21. इसके बाद नीचे यह शीर्ष वर्णन लिखें "निष्कर्षों के कारण" फिर प्रत्येक अपवाद पर कंडिकाओं में साक्ष्य की मार्शलिंग कर उसकी परख करें (देखें नियम 154 (II) हर वादपद पर विचार के पश्चात अपने निष्कर्ष स्पष्ट रूप से नियम 155 (1) के अनुसार लिखें।)

22. सब वादपदों के निष्कर्षों के कारण व निष्कर्ष लिखकर अंतिम कंडिका में निर्णय का अंतिम आदेश व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 20 नियम 6–क तथा नियम एवं आदेश सिविल के नियम 156 व 157 का पालन करते हुए वादपत्र में मांगी गयी सहायताओं के विवरण को पढ़कर लिखें। वाद–व्यय कौन पक्षकार किसे देगा और उसका दायित्व किसी संपत्ति पर डालना हो तो उस संपत्ति का व संपत्ति जिसकी है– इन बातों का उल्लेख करें। अभिभाषक फीस अभिभाषकों

ने प्रमाणित करने का प्रमाण पत्र दिया हो तो उस में दी गई राशि वादव्यय में शामिल होगी यह अंकों में लिखें जैसे 150/–, 250/– ऐसा न लिखें "यदि प्रमाणित हो तो नियमानुसार"। ऐसा लिखें "प्रमाणित हो गया हो तो अभिभाषक" शुल्क 150/– तक स्वीकृत।

फ़िर अंतिम पंक्ति में लिखें "तदनुसार डिक्री बनाई जावे।

23. निर्णय लिखने के बाद उसे पढ़ लें और लिखने या टाइप करने में भूलें या विवरण की कमी या भूलें ठीक कर लें। इस प्रक्रिया को प्रारूप का (री–रीडिंग) रिवीजन करना कहते हैं जो बहुत आवश्यक है। (देखें नियम 154 (13))

24. खुले न्यायालय में निर्णय की घोषणा करके निर्णय के नीचे अपने हस्ताक्षर करें और तारीख लिखें और उसके नीचे अपना नाम अपने पद का संक्षिप्त विवरण लिखें, जैसे प्रथम व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2.....।

डिक्री बनाना

25. धारा 2 (2) व्यवहार प्रक्रिया संहिता में "डिक्री" शब्द की परिभाषा दी है। इस परिभाषा को व्यवहार प्रक्रिया संहिता पर किसी टीका में दी गई टिप्पणी पढ़ कर समझें। डिक्री के प्रारूप का बहुत अंश सरकारी प्रेस द्वारा छपवाए गये डिक्री के फार्म में है जिनमें खाली जगहों को निर्णय के अंतिम कंडिका आदेश के अनुसरण में उसके अनुसार भरना चाहिए। व्य.प्र.सं. के आदेश 20 नियम 7 से 19 तथा नियम एवं आदेश सिविल के नियम 165 से 178 तथा वाद व्यय के विषय में नियम 180 से 183 पढ़ लें और अपने रीडर को पढ़ा और समझा दें क्योंकि डिक्री भरे जाने वाले विवरणों को वही भरता है। डिक्री सही बने इसका दायित्व न्यायाधीश पर है। (देखें नियम 165 नियम एवं आदेश सिविल)

26. डिक्रियों के छपे हुए प्रारूप व्य.प्र.सं. के प्रथम शिड्यूल में कई एपेंडिक्स हैं। इनमें एपंडिक्स "डी" में डिक्रियों के 23 प्रारूप छपे हैं। इनसे वाद में कौन से प्रारूप की डिक्री बनेगी उस प्रारूप का सही चयन हो सकेगा।

27. डिक्री बनाने व उसके बनने पर नोटिस देने व डिक्री पर हस्ताक्षर करने के विषय में नियम एवं आदेश में उल्लिखित निर्देशों का पालन न्यायाधीश करें और रीडर से करवायें। (देखें नियम 165 से 178)

28. इन निदेर्शों को समय–समय पर पढ़ते रहना और याद रखना चाहिए और डिक्री बनाने के समय पुस्तक खोलकर डिक्री बनाने इत्यादि काम करने की आदत स्वयं डालें एवं रीडर को ऐसी आदत डलवायें।

29. कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है। न्यायालय का वर्णन न्यायाधीश का नाम, पक्षकारों के नाम व विवरण, व्यवहार वाद के पंजीयन क्रमांक का उल्लेख, वाद प्रस्तुति का उल्लेख, दावे के क्षेत्राधिकार के मूल्यांकन का उल्लेख उसी तरह होना चाहिए जैसा निर्णय के शीर्ष–वर्णन लिखने के बारे में ऊपर कंडिका 14 और 15 में बताया जा चुका है। अचल संपत्ति का संपूर्ण विवरण डिक्री में देना चाहिए और उस विवरण के लिए वादी क्रमादेश किए नक्शे की प्रतिलिपि को डिक्री के साथ उसके अंश के रूप में संलग्न करना चाहिए। इस नक्शे पर मुकदमे का नम्बर डालें और उस पर लिखें कि डिक्री का अंश है और इस पृष्ठाकंन पर न्यायाधीश डिक्री पर हस्ताक्षर करने के समय हस्ताक्षर करें व तारीख लिखें।

●

वाद प्रश्न (मुद्दे) की रचना करना

1. न्यायालय वाद पंजीयन का लिखित आदेश आर्डरशीट पर दे। वाद की सुनवाई की प्रक्रिया का आरंभ, प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित होकर दावे का उत्तर देने के लिए वाद की सुनवाई तारीख सुनिश्चित कर और वाद की सुनवाई वाद पद बनाकर करने के विनिश्चिय की स्थिति में, प्रतिवादी को अपना प्रतिवाद पत्र प्रस्तुत करने की एक अंतरिम तारीख जो सुनवाई के तारीख के पहले की होगी, निर्धारित कर इन बातों का उल्लेख करने वाले सम्मन को प्रतिवादी पर निर्वाह हेतु निर्गमित करने का आदेश उसी आर्डरशीट में देगा। (देखें व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 5 के नियम 1 से 5 एवं आदेश सिविल के नियम 42 से 45)

2. प्रतिवादी न्यायालय में प्रतिवाद पत्र प्रस्तुत कर वाद को चुनौती देता है। इससे पक्षकारों के बीच विवाद का न्यायालय के समक्ष आना और न्यायालय का गुण–दोष पर सुनवाई करने का कानूनी दायित्व हो जाता है।

3. व्यवहार प्रक्रिया संहिता में वादी और प्रतिवादी से यह अपेक्षा रहती है कि वे क्रमशः वादपत्र और प्रतिवाद पत्र में सारवान तथ्यों और सारवान कानूनी प्रश्नों के प्रकथन करें जिन पर वे क्रमशः दावे की स्वीकृति के पक्ष या दावे की अस्वीकृति के पक्ष के योग्य समझते हों वो न्यायालय वाद, प्रतिवाद, दस्तावेज पढ़कर पक्षकारों के बीच उठे विवाद के बिन्दुओं को प्रश्नों के रूप में लिखेगा। इस कार्य का वाद प्रश्न बनाना कहते हैं। इस कार्यविधि को करने का उल्लेख आदेश 14 नियम 1 से 4 (व्य.प्र.सं.) में तथा नियम व आदेश (सिविल) के नियम 144 से 145 के उपबन्धों में हैं।

4. उपर्युक्त कार्य कितना महत्वपूर्ण है उसे इस तरह समझा जा सकता है। जब कोई प्रश्न उठता है तो उसका उपयुक्त उत्तर अपेक्षित है। प्रश्न का उपयुक्त उत्तर प्रश्न की स्पष्टता पर निर्भर है। यदि प्रश्न स्पष्ट है उत्तर स्पष्ट और उपयुक्त आने की अपेक्षा और संभावना अधिक होती है। यदि प्रश्न अस्पष्ट है तो उत्तर अस्पष्ट और अनुपयुक्त होने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए न्यायालय को वाद प्रश्न बहुत स्पष्ट, पूर्ण तथा कानूनी उपबन्धों के अनुसार बनाना चाहिए क्योंकि इन प्रश्नों के पक्षकारों के बीच विवादित तथ्यों और कानूनी मुद्दों का ध्यान पक्षकारों का ध्यान तथा न्यायालय का ध्यान केन्द्रित होता है। पक्षकारों का ध्यान सही मुद्दे पर केन्द्रित होने पर वे उन्हें समझ कर अपने–अपने पक्ष के अनुरूप साक्ष्य प्रस्तुत करने के कानूनी दायित्व को निभा सकेंगे। व्य.प्र.सं. के आदेश 18 नियम 2 (1) एवं नियम 3 में लिखा है कि साक्ष्य आरंभ करने का अधिकारी पक्षकार वह साक्ष्य प्रस्तुत करेगा जिससे वे वाद प्रश्न ऐसा प्रमाणित हों जिन्हें प्रमाणित करने का कानूनी भार उस पर हो। ऐसे साक्ष्य को खंडित करने ओर अपने उपर साक्ष्य का भार डालने वाले वाद पद को प्रमाणित करने के लिए उपयुक्त साक्ष्य दे सकेगा।

5. व्य.प्र.सं. के आदेश 20 नियम 5 कहता है कि न्यायालय निर्णय में प्रत्येक वादपद में उल्लिखित बिन्दु पर अपना निष्कर्ष लिखेगा। व्य.प्र.सं. के आदेश 14 नियम 2 (1) भी कहता है कि न्यायालय सभी वादपदों के उत्तर देगा अतः विधिसम्मत निर्णय निर्मित वाद पदों के उत्तरों पर निर्भर है और उपयुक्त समाधानकारक उत्तर उपयुक्त और स्पष्ट वादपदों पर ही संभव है।

6. **वाद पद बनाने की प्रक्रिया :** वाद पद के जिन प्रकथनों को प्रतिवादी ने प्रतिवाद पत्र में या वादी या प्रतिवादी ने आदेश 10 नियम 2 के परीक्षण में या आदेश 12 नियम 1 व्य.प्र.सं. के अंतर्गत लिखकर या आदेश 12 नियम 4 (व्य.प्र.सं.) के अंतर्गत विरोधी पक्ष द्वारा तथ्यों को स्वीकृत करने की सूचना के लिखित उत्तर में या आदेश 11 के नियम 1 के अंतर्गत विरोधी पक्ष के द्वारा प्रस्तुत प्रश्नावली (इंट्रोगेटीज़) का आदेश 11 नियम 8 के अंतर्गत दिए शपथ पत्र में स्वीकृत किए हों उन पर वादपद नहीं बनाये जावेंगे। वादपत्र में बचे हुए विवादास्पद सारवान तथ्यों के प्रकथनों की विशिष्ट अस्वीकृति प्रतिवादी ने की है और प्रतिवाद पत्र के जिन स्वतंत्र तथ्यों प्रकथनों की स्वीकृति वादी ने नहीं की है उन तथ्यों के वाद पद बनेंगे। उदाहरण के लिए, वाद पत्र के अनुसार प्रतिवादी ने वादी से 1.2.96 को रुपये 2000/– कर्ज लिए। प्रतिवादी पत्र में उपर्युक्त कथन को इस हद तक स्वीकार किया गया कि प्रतिवादी ने केवल

1500/– रु. कर्ज लेने के बाद 1.4.96 को रुपये 500/– की अदायगी वादी को की। वादी ने इस अदायगी के विषय वादपत्र में संशोधन या आदेश 11 एवं 12 में स्वीकृति नहीं दी है। इस स्थिति में तथ्यों के वाद पद इस तरह बनेंगे।

1. क्या वादी ने प्रतिवादी को कर्ज में 2000/– दिये?

2. क्या प्रतिवादी को कर्ज में केवल 1500/– मिले? (यह वाद प्रश्न बनाया जाना संभवतः अपने आप में आवश्यक न भी हो।)

3. क्या प्रतिवादी ने 1.4.96 को 500/– कर्ज की अदायगी में दी?

7. कानूनी पद तथ्यों को अलग रखकर नहीं उठते। ये तथ्य या तो पक्षकारों की प्लीडिंग में उभयपक्ष को मान्य रहते हैं या एक पक्ष द्वारा चुनौती पाए रहते हैं। पहले प्रकार के कानूनी वादपद का प्रारूप ऐसा रहेगा–

1. क्या वादी की अवयस्कता में उसके पिता व नैसर्गिक संरक्षक रामचरण द्वारा वादी की स्वामित्व की कृषिभूमि 25.6.1996 को प्रतिवादी को हिन्दू अप्राप्त वयता और संरक्षकता अधिनियम 1956 की धारा 8 (2)(क) के अंतर्गत न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा प्राप्त किए बिना बेचने से उपर्युक्त विक्रय वादी की प्रेरणा पर धारा 8 (3) के अंतर्गत शून्यकरणीय हो गया है?

दूसरे प्रकार के कानूनी पद का प्रारूप ऐसा रहेगा–

2. (अ) क्या वादी रामकली को पिता रामकृष्ण 30 जून 1956 को बिना मृत्युपत्र किए मृत्यु को प्राप्त हुआ।

(ब) यदि हाँ, तो क्या वादी रामकली हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 (जो 17 जून 1956 को प्रभावशील हो चुका था) की धारा 6 के परन्तुक के अंतर्गत रामचरण का वर्तमान में विवादग्रस्त भूमि हित उसके करने पर उक्त अधिनियम की धारा 6 के परन्तुक के अंतर्गत निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होने पर वादी रामकली उक्त अधिनियम की धारा 8 की अनुसूची के वर्ग–1 की उत्तराधिकारिणी की हैसियत से सह–स्वामिनी हो विवादग्रस्त भूमि की अपने भाई प्रतिवादी कृष्णदेव के साथ सह–स्वामिनी हो गई?

8. यह ध्यान में रहे कि जो प्रकथन फैक्ट इन इश्यू (विवादित तथ्य) रेलेवेन्ट फैक्ट हो उस पर वाद प्रश्न नहीं बनेगा। इसी तरह कोई साक्ष्य कानूनन साक्ष्य में ग्राह्य है या नहीं इस बात पर भी वाद प्रश्न नहीं बनेगा।

वाद प्रश्न जिस कागज पर बनाया जावे उसके ऊपरी भाग पर व्यवहारवाद का क्रमांक व उस क्रमांक के बगल में व्यवहार वाद की प्रस्तुति की तारीख लिखनी चाहिए जिससे वाद प्रश्नों को समयावधि के परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जा सके।

●

आरोप (चार्ज) बनाना

1. द.प्र.सं. 1973 की धारा 2 ख(बी) में "चार्ज" शब्द की परिभाषा में द्विशीर्षीय या बहुशीर्षीय का कोई भी एक शीर्ष शामिल रहेगा।

2. वस्तुतः चार्ज (आरोप) विचारण (ट्रायल) न्यायालय द्वारा निर्मित वह लिखतम है जिसमें अभियुक्त को संक्षिप्त रूप से यह ठीक सूचना दी जा रही है कि अमुक कानून की अमुक धारा में वर्णित अपराध जो अमुक धारा के अंतर्गत दंडनीय है, को करने का आरोप पर उसका उत्तर देखकर उसके विरुद्ध विचारण आरंभ होगा।

3. विचारण दंड प्रक्रिया संहिता 1973 के अंतर्गत सत्रवाद में धारा 228 मजिस्ट्रेट के समक्ष पुलिस द्वारा प्रस्तुत आरोपपत्र में धारा 240, परिवाद (कम्पलेन्ट) पर मजिस्ट्रेट द्वारा पंजीकृत किए वारन्ट मामले में (धारा 246(1)) चार्ज बनाने के उपबन्ध है। इन आरोप को फार्मल (औपचारिक) चार्ज कहते हैं क्योंकि इनके स्वरूप (फार्म) के विवरणों का उल्लेख दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 211 से 214 में है, और प्रारूप (प्रोफार्मा) संहिता के द्वितीय परिशिष्ट के फार्म क्रमांक 32 के शीर्ष के अंतर्गत दिये गए हैं।

4. समन्स मामलों में फार्मल चार्ज बनाने की आवश्यकता नहीं है, (देखें धारा 251)

5. धारा 2 (एक्स) कहती है कि मृत्युदंड, आजीवन कारावास और दो वर्षों से अधिक अवधि के लिए दंडनीय अपराधों का विचारण जिस मामले में होता है, उसे वारन्ट कहते हैं। धारा 2 (डब्लू) कहती है कि ऐसे अपराध से संबंधित मामला, जो वारन्ट मामले की परिभाषा में उल्लिखित अपराधों के विवरण के परे है, समन्स मामला कहलावेगा।

6. सत्रवादों में और मजिस्ट्रेट के समक्ष पुलिस द्वारा प्रस्तुत वारन्ट मामलों में आरोपपत्र कागजों को पढ़कर और उभयपक्षों के तर्क सुनकर चार्ज बनाना या न बनाने के उपबन्ध क्रमशः धारा 225 से 230, धारा 239 से 242(1) में हैं। परिवाद पर पंजीकृत मजिस्ट्रेट के समक्ष चलने वाले वारन्ट मामलों में परिवादी (कम्पलेनेन्ट) के साक्षियों के कथन और साक्ष्य से प्रमाणित लेखों के वस्तु (मैटर) के आधार पर मजिस्ट्रेट द्वारा चार्ज बनाने के उपबन्ध धारा 246 में है।

7. दंड प्रक्रिया की धारा 211 से 223 में चार्ज के फार्म व चार्ज संबंधी अन्य विषयों का उल्लेख है। इन उपबन्धों को समझने के लिए दं.प्र.सं. पर किसी प्रतिष्ठित लेखक की टीका पढ़ें। इन्हीं विषयों पर नियम एवं आदेश क्रिमिनल के नियम 169 से 179 में उच्च न्यायालय को निर्देश हैं जिन्हें अध्ययन कर उनका पालन करें। मान्य लेखकों की इंडियन पेनल कोड पर लिखी गई टीकाओं में विभिन्न अपराधों से संबंधित धाराओं पर की गई टिप्पणियों में चार्जों के रूप व प्रारूप और तत्संबंधी कानून की व्याख्या बहुत सहायक होगी।

8. चार्ज के प्रारूप (फार्म) पर धारा 211 से 214 में कानूनी उपबन्ध हैं।

9. धारा 211 कहती है कि :

   1. चार्ज में अपराध के विषय के कथन रहेगा।
   2. अपराध को गठित करने वाला कानून उस अपराध का जो नाम देता है उसी नाम का उल्लेख होना चाहिए।
   3. यदि उपर्युक्त कानून ने अपराध को कोई विशिष्टि नाम न दिया हो तो उस अपराध की परिभाषा का उतना अंश चार्ज में लिखना चाहिए जिससे अभियुक्त को उस कथावस्तु (मैटर) को नोटिस मिले जिसके बारे में उन पर दोषारोपण हुआ है।
   4. उल्लेखित कानून और उसकी तत्संबंधित धारा का चार्ज में उल्लेख करना चाहिए।
   5. चार्ज बनने के तथ्य ऐसे कथन का द्योतक समझा जावेगा कि अपराध को गठित करने के लिए प्रत्येक कानूनी शर्त (कन्डीशन) प्रस्तुत मामले में पूरी तौर से मौजूद है।
   6. चार्ज न्यायालय की भाषा में बनाया जायेगा।
   7. यदि अभियुक्त पूर्व दोष–सिद्धि के कारण मौजूदा मामलें में अधिक या भिन्न किस्म की सजा का पात्र हो सकता है, और ऐसी पूर्व दोष सिद्धि को ऐसे उद्देश्य के लिए प्रमाणित करना अभिप्रेत हो तो पूर्व सिद्धि के तथ्य, पूर्व दोष सिद्धि की तारीख का और जहां दोष–सिद्ध हो उस स्थान का, उल्लेख चार्ज में होना चाहिए।

   धारा 211 में संलग्न चार उदाहरणों में उपर्युक्त उपबन्धों को अच्छी तरह समझाया गया है। धारा 211 पढ़ने के बाद इन उदाहरणों को पढ़ें और फिर धारा 211 को पढ़ें। इस प्रक्रिया से अध्ययन हर कानून की उस धारा के उपबन्धों का अध्ययन करना चाहिए जिनसे उदाहरण संलग्न हो।

10. धारा 212 (1) कहती है कि चार्ज में आरोपित अपराधों के लिए जाने के समय (तारीख) और स्थान और जिस व्यक्ति के साथ कथित अपराध किया गया हो या वह वस्तु जिसके विषय में कथित अपराध किया गया हो, इन चारों विषयों से संबंधित इतने विवरण दिए जाने चाहिए जो युक्तियुक्त रूप से अभियुक्त को उस वस्तु (मैटर) की सूचना मिले जिसके बारे में दोषारोपण हुआ हो।

11. धारा 212(2) कहती है कि धन या जंगम संपत्ति के अपराधिक न्यास भंग या बेइमानी पूर्ण दुर्विनियोजन के चार्जों में धन की सम्पूर्ण (एकजाई) राशि का उल्लेख और जंगम संपत्ति का विवरण तथा उन दो तारीखों का उल्लेख होना चाहिए जिनके बीच की अवधि में कथित अपराध किया गया हो। यहां धन व संपत्ति के विभिन्न आइटमों का उल्लेख या निश्चित तारीख या तारीखों का उल्लेख आवश्यक न हो। परन्तुक (प्राव्हिजो) में कहा गया है कि दो तारीखों की बीच की अवधि एक वर्ष की अवधि से अधिक नहीं होनी चाहिए।

12. धारा 213 कहती है कि मामले का स्वरूप ऐसा हो कि धारा 211 ओर 212 के अनुसार दिए गए विवरणों से अभियुक्त को उस वस्तु (मैटर) की पर्याप्त सूचना नहीं मिलती है जिसके बारे में उस पर दोषारोपण हुआ हो तो चार्ज में यह भी बताना चाहिए कि आरोपित अपराध किस ढंग से किया गया था। उदाहरण के लिए, बताए गए समय व स्थान पर छल--कपट (चीटिंग) के अपराध में यह बताना आवश्यक है कि छलकपट किस ढंग से किया गया था। धारा 213 से संलग्न 6 उदाहरणों को पढ़कर फिर से धारा 213 पढ़ें।

13. चार्ज में वर्णित अपराध को दर्शाने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ हो उन शब्दों को वही अर्थ (सेन्स) देकर चार्ज में उपयोग किया है जिस अर्थ में उस कानून में किया गया है जिसमें अपराध को दंडनीय कृत्य के रूप में पहली बार बताया गया हो।

14. धारा 216 (1) कहती है कि न्यायालय चार्ज बनाने के बाद निर्णय देने के पहले कभी भी उस चार्ज में संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन किया जा सकता है। धारा 216(2) से (7) में यह बताया गया है कि चार्ज में परिवर्तन के बाद न्यायालय को कौन सी अतिरिक्त कार्यवाहियां करनी पड़ेगी। जैसे साक्षियों को आहूत करने का दोनों पक्षों को अवसर देना।

15. धारा 218 से 223 में एक विचारण (ट्रायल) में दो या उससे अधिक अपराधों को जो भिन्न--भिन्न प्रकार के हों, एक आरोपपत्र में वैध रूप से शामिल करने की अनुमति से संबंधित उपबन्ध है जबकि धारा 218 से 222 में एक अभियुक्त के विचारण का संदर्भ है, धारा 223 में दो या अधिक अभियुक्तों का एक ही विचारण का संदर्भ है।

16. धारा 218(1) में यह सामान्य नियम है कि यदि किसी अभियुक्त के विरुद्ध दो या अधिक अपराध करने का दोषारोपण करना अभिप्रेत है तो प्रत्येक अपराध के लिए एक चार्ज बनेगा और उस एकल चार्ज के लिए विचारण होगा। इस नियम से संलग्न परन्तुक (प्रोव्हिजो) में यह अपवाद है कि यदि अभियुक्त न्यायालय को लिखित आवेदन पत्र देकर यह प्रार्थना करे कि : वह अपने विरुद्ध लगाए गये भिन्न किस्म के अपराधों पर लगाए आरापों पर एक ही विचारण में सुनवाई और उसका निपटारा चाहता है ओर मजिस्ट्रेट की यह राय हो कि इस तरह के विचारण की सुनवाई करने में अभियुक्त को पूर्वाग्रह (प्रीजुडिस) होने की संभावना नहीं है तो मजिस्ट्रेट सभी आरापों पर या उनमें से कुछ आरापों पर एक विचारण में सुनवाई कर सकता है।

17. धारा 218 (2) कहती है कि धारा 218 (1) सामान्य नियम का उपबन्ध धारा 219, 220, 221 और 223 के उपबन्धों की प्रचलनीयता (आपरेशन) को प्रभावित नहीं करेगा।

18. धारा 219 (1) कहती है कि जब किसी व्यक्ति के द्वारा एक किस्म के एक से अधिक अपराध बारह महीनों की अवधि में करने का दोषारोपण (एक्यूजेशन) हो, चाहे एक ही व्यक्ति या कई व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध किया जाना अभिकथित हो – तो अधिक से अधिक तीन अपराधों के आरोप बनाकर उन पर एक विचारण में सुनवाई की जा सकती है।

19. धारा 219 (2) कहती है कि एक किस्म के अपराधों का आशय ऐसे अपराधों से है जो इंडियन पेनल कोड या किसी विशेष विधि या स्थानीय विधि के अंतर्गत समान दण्ड से दण्डनीय बनाए गये हों।

20. धारा 219 से संलग्न परन्तुक कहता है कि उक्त धारा के प्रयोजनार्थ धारा 379 (इंडियन पेनल कोड) के अंतर्गत दण्डनीय अपराध धारा 380 के अंतर्गत दण्डनीय अपराध की किस्म का अपराध कानून की दृष्टि में माना जावे और कि ऐसा अपराध करने का प्रयास हुआ हो और वह प्रयास इंडियन पेनल कोड की या किसी धारा के अंतर्गत या विशेष विधि या स्थानीय विधि के अंतर्गत दंडनीय अपराध हो तो सारवान रूप से दंडनीय अपराध और उस अपराध के दण्डनीय प्रयास के अपराध एक किस्म के अपराध कानून की दृष्टि से माने जावे।

21. धारा 220 (1) कहती है कि यदि किसी संव्यवहार (ट्रॉंजेक्शन) का निर्माण परस्पर जुड़े कृत्यों से जनित एक से अधिक अपराध किसी व्यक्ति ने किए हों तो ऐसे अपराधों के प्रत्येक अपराध के लिए उस पर आरोप लगा उन आरोपों पर सुनवाई

एक विचारण में की जा सकती है। उदाहरणार्थ "क" "ख" को, जो पुलिस कांस्टेबल "ग" की वैध अभिरक्षा में था, छुड़ा लेता है और यह करने में "ग" को गंभीर चोट पहुँचाता है, तो "क" पर धारा 225 एवं 333 (इंडियन पेनल कोड) के अंतर्गत दंडनीय अपराधों के आरोप उस पर लगाकर एक विचारण में उसे दोषसिद्ध किया जा सकेगा।

22. धारा 220 (2) कहती है कि जब किसी व्यक्ति के विरुद्ध अपराधिक न्यास भंग या संपत्ति के दुर्विनियोजन करने का एक या उससे अधिक आरोप दं.प्र.सं. की धारा 212(2) या 219 (1) के अंतर्गत बनाए गए हों और उस व्यक्ति पर यह दोषारोपण हो कि उसने उपर्युक्त अपराध या अपराधों को सुगमता से करने या उनके किए जाने के तथ्य को छिपाने के लिए, फाल्सिफिकेशन ऑफ एकाउन्ट्स (लेखा जोखा में छलकपट) के एक या अधिक अपराध किए हैं, उसे ऐसे प्रत्येक अपराध के लिए आरोपित कर उन पर एक विचारण में सुनवाई की जा सकती है।

23. धारा 220(3) कहती है कि यदि अभियुक्त के अभिकथित कृत्य तत्समय प्रवृत किसी कानून के अंतर्गत ऐसा अपराध बनाते हों जो उस कानून के उपबन्धों में दो या अधिक, अलग–अलग परिभाषाओं में आयें या दण्डनीय बनें, तो अभियुक्त पर ऐसे प्रत्येक अपराध का आरोप लगाकर उन आरापों पर विचारण किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ, यदि "क" "ख" को छड़ी से अन्यायपूर्ण रूप से (रांगफुली) मारे तो उस पर धारा 352 ओर 323 (इंडियन पेनल कोड) के अंतर्गत दंडनीय अपराधों के लिए अलग–अलग आरोपित कर एवं विचारण में दोष सिद्ध किया जा सकेगा।

24. धारा 220 (4) कहती है कि यदि कई कृत्य, जिनमें एक कृत्य या एक से अधिक स्वयं में अपराध बनते हैं, मिलकर एक भिन्न अपराध बनाते हैं, तो अभियुक्त पर एक कृत्य और एक से अधिक कृत्यों और सभी कृत्यों द्वारा बने अपराधों से आरोपित किया जाकर उन पर एक विचारण में विचार किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ, "क" " ख" की लूट (रॉबरी) करता है ओर ऐसा करने में उसे स्वेच्छया चोट पहुंचाता है उस पर इंडियन पेनल कोड की धारा 323, 392, और 394 के अंतर्गत अलग–अलग आरोप बनाकर उसे एक विचारण में दोषसिद्ध किया जा सकता है।

25. धारा 220 (5) कहती है धारा 220 (1) से (4) के उपबन्ध इंडियन पेनल कोड की धारा 71 को प्रभावित नहीं करेंगे, जिसके अनुसार दंड मिश्रित (कम्पाउंड) या सबसे गंभीर (ग्रेव्ह) अपराध के लिए ही दिया जाना चाहिये।

26. धारा 221 (1) कहती है कि यदि एक एकल कृत्य या कृत्य श्रृंखला की प्रकृति ऐसी हो कि यह शंकास्पद हो कि प्रमाणित तथ्यों से गठित होने वाले कई अपराधों मे से कौन सा अपराध प्रमाणित होगा तो अभियुक्त पर यह आरोप लगाया जा सकेगा कि उसने वे सभी अपराध या उनमें से कोई भी अपराध किया है। ऐसी दशा में कितने ही आरोपों पर एक समय विचारण किया जा सकेगा या उस पर वैकल्पिक (अल्टरनेटिव्ह) आरोप लगाया जा सकता है कि उसने उन अपराधों में कोई एक अपराध किया। उदाहरणार्थ "क" पर ऐसा कृत्य करने का अभिकथन हो जो चुराई संपत्ति लेना या अपराध न्यास भंग या छलकपट का कृत्य (चीटिंग) बन सकता हो उस व्यक्ति पर उपर्युक्त अपराध के आरोप लगाए जा सकते हैं या ऐसे आरोप लगाए जा सकते हैं कि उसने चोरी या चुराई संपत्ति लेने या अपराधिक न्यासभंग या छलकपट (चीटिंग) किया हो।

27. धारा 221 (2) कहती है कि यदि धारा 221(1) के अंतर्गत किसी अभियुक्त के विरुद्ध एक अपराध का आरोप लगाया गया हो ओर साक्ष्य से यह दिखे कि उसने कोई ऐसा भिन्न अपराध किया है, जिसके लिए धारा 221 (1) के अंतर्गत आरोपित किया जा सकता था, जो उसे उस अपराध के लिए दोष–सिद्ध किया जा सकता है जिसका उसके द्वारा किया जाना (साक्ष्य में) दर्शाया गया हो, चाहे उस अपराध का आरोप उस पर न लगाया गया हो। उदाहरणार्थ, पिछली कंडिका के अंत में दिए उदाहरण में वर्णित तथ्यों के संदर्भ में "क" पर केवल "चोरी" का आरोप लगाया गया हो पर साक्ष्य से यह प्रतीत हो कि उसने अपराधिक न्यासभंग का अपराध या चोरी का माल लेने का अपराध किया है तो उसे ऐसे कृत्य के लिए जैसी भी स्थिति हो के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकता है, भले ही इनके लिए आरोप न बने हों।

28. जबकि धारा 220 ऐसे मामले पर लागू होती है जहां श्रृंखलाबद्ध कई कृत्य किए गये हों और प्रत्येक कृत्य स्वयं में एक भिन्न अपराध बनता हो धारा 221 ऐसे मामलों में लागू होती है जहां तथ्यों पर कोई शंका नहीं है पर उन तथ्यों पर किसी विधि प्रावधानों का लागू करना शंका की स्थिति का निर्माण करता हो।

29. धारा 222 (1) कहती है कि जब किसी अभियुक्त पर ऐसा अपराध करने का आरोप हो जिसके कई विवरण (पर्टिकुलर्स) हों पर उनमें से कुछ विवरणों के मेल से एक पूर्ण लघु अपराध बनता हो, और यह कुछ विवरणों का मेल तो प्रमाणित हो जाए पर शेष विवरण प्रमाणित न हो सके तो उसे लघु अपराध के लिए तत्संबंधित आरोप के अभाव में भी दोषसिद्ध किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ "क" पर धारा 407 के अंतर्गत दण्डनीय अपराध का आरोप कि उसने बतौर

"वाहक" अपने को सौंपी गई संपत्तियों का अपराधिक न्यास भंग किया। परन्तु बाद में ऐसा दिखे कि उसने संपत्ति का अपराधिक न्यास भंग तो किया परन्तु उसको संपत्ति की सुपुर्दगी "वाहक" की हैसियत नहीं हुई थी। ऐसी दशा में उसे धारा 406 के अंतर्गत दोषसिद्ध किया जा सकेगा।

30. धारा 222 (2) कहती है कि जब अभियुक्त पर एक अपराध आरोपित हो और ऐसे तथ्य प्रमाणित हो जिनसे एक कनिष्ठ या लघु (माइनर) अपराध बनता हो तो चार्ज के अभाव में भी उसे कनिष्ठ या लघु अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ "क" पर धारा 325 के अंतर्गत स्वेच्छया गंभीर चोट पहुंचाने का आरोप है, प्रमाणित करता है कि उसने यह कृत्य गंभीर और अचानक (ग्रेव्ह एंड सडन) रूप से प्रकोपन (प्रोव्होकेशन) मिलने पर किए जाने पर किया तो उसे धारा 335 के अंतर्गत दोष सिद्ध किया जा सकेगा।

31. धारा 222 (3) यदि किसी व्यक्ति पर कोई अपराध करने का आरोप हो तो उसे उस अपराध करने के प्रयत्न करने के लिए आरोप के अभाव में दोषसिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ धारा 379 का आरोप लगा है पर धारा 379/511 के अंतर्गत दोषसिद्धि की जा सकती है।

32. धारा 222 (4) यदि किसी अपराध के विचारण में पाया जाये कि आरोपित अपराध के कनिष्ठ या लघु (माइनर) अपराध बनता है पर ऐसे अपराध के लिए मामला चलाने की कानूनी स्थिति की शर्त पूरी न हुई हो तो उसे धारा 222 (2) द.प्र.सं. के अंतर्गत दोष सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। उदाहरण के लिए यदि कनिष्ठ या लघु अपराध के लिए मामला दायर करने के पूर्व मंजूरी (सेंक्शन) लेना आवश्यक था पर पूर्व मंजूरी का अभाव है तो ऐसे कनिष्ठ अपराध के लिए दोष सिद्ध नहीं किया जा सकेगा।

33. धारा 323 : जबकि धारा 219 से 222 में एक विचारण में एक व्यक्ति के विरुद्ध एक से अधिक चार्जों को जोड़ने के विषय पर उपबन्ध है, धारा 223 में एक विचारण में एक से अधिक अभियुक्तों के विरुद्ध एक से अधिक आरोपों को जोड़ने के विषय में उपबन्ध है।

34. ये उपबन्ध धारा 218 (1) के इस सामान्य नियम का अंतिम अपवाद (एक्सेप्शन) है कि अपराध के लिए अलग (सेपरेट) आरोप बनेगा और अलग विचारण होगा।

35. यदि धारा 223 के उपबन्ध लागू नहीं होते हैं और कई अभियुक्तों का संयुक्त विचारण होता है तो यह विचारण अवैध हो जावेगा।

36. धारा 223 (खंड–ए) के अनुसार एक संव्यवहार के किए गये किसी अपराध के लिए एक से अधिक अभियुक्तों का एक साथ विचारण हो सकता है।

37. धारा 228 (खंड–बी) से अपराध करने वाला व्यक्ति का उत्प्रेरण (अबेटमेंट) या प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के साथ संयुक्त विचारण हो सकता है या निम्नलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है। एक रेल्वे टिकिट कलेक्टर ने उपयोग में आये 2 रेल्वे टिकटों को एक व्यक्ति को देकर निर्देश दिया कि वह इन टिकटों के लिए दी गई राशि के "रिफन्ड" की वापसी के लिए आवेदन पत्र दे। दूसरे व्यक्ति ने आवदेन पत्र दिया, पर उसका अवैध कृत्य पकड़ में आ गया। कलकत्ता हाईकोर्ट ने कालीदास चक्रवर्ती (1911) 38 कलकत्ता 453 में कहा कि टिकिट कलेक्टर धारा 408, 420 तथा 109 के अंतर्गत तथा दूसरे व्यक्ति की धारा 420/511 के अंतर्गत संयुक्त विचारण वैध है।

38. धारा 223 (खंड–सी) : कई व्यक्ति बारह महीनों की अवधि में एक किस्म के कई अपराध संयुक्त रूप से करे तो खंड (सी) लागू होगा।

39. धारा 223 (खंड–डी) यदि एक संव्यवहार (ट्रॉंजेक्शन) के दौरान कई व्यक्ति भिन्न भिन्न अपराध करें तो उसका संयुक्त विचारण हो सकता है।

40. धारा 223 (खंड–ई) यदि दो अभियुक्तों में से एक पर ऐसा अपराध आरोपित हो जिसमें चोरी, उद्दीपन, छलकपट (चीटिंग) या अपराधिक दुर्विनियोजन शामिल हो और दूसरे व्यक्ति पर चोरी से प्राप्त संपत्ति को लेने, रखे रहने या बेचने या छिपाने में सहायता (असिस्ट) करने के अपराध आरोपित हो तो दोनों का संयुक्त अपराध विचारण हो सकता है।

41. धारा 223 (खंड–एफ) यदि कई व्यक्तियों पर धारा 411 और 414 (इंडियन पेनल कोड) के अंतर्गत दंडनीय अपराध, ऐसी चोरी गई संपत्ति के विषय में हो जिसका अंतरण (ट्रांसफर) एक अपराध से किया गया हो, ऐसे सभी व्यक्ति का संयुक्त विचारण हो सकता है।

42. धारा 223 (खंड–जी) इस खण्ड में इंडियन पेनल कोड के अध्याय 12 के अंतर्गत किसी नकली सिक्के के बारे में किन्हीं के द्वारा किये गये अपराधों और उस अपराध के उत्प्रेरण (अबेटमेंट) या प्रयत्न (अटेम्पट) करने वाले व्यक्तियों या उस सिक्के के बारे में किए गए अन्य कोई अपराध करने वाले व्यक्तियों के संयुक्त विचारण को विधि अनुकूल बनाया गया है।

43. धारा 223 के संलग्न परन्तुक (प्रोव्हिजों) खंड (ए) से (जी) को लागू होता है। इसके अनुसार कई व्यक्तियों पर अलग–अलग (सेप्रेट) अपराध के आरोप हों पर वे व्यक्ति खंड (ए) से खंड (जी) की श्रेणियों में नहीं हों, पर वे लिखित आवेदन देते हैं कि उनका संयुक्त विचारण हो। यदि मजिस्ट्रेट को समाधान हो जाता

है कि संयुक्त विचारण से उनको पूर्वाग्रह (प्रिजूडिस) नहीं होगा, और ऐसा करना व्यवहारिक तौर से इष्टकर (एक्सपीडिएन्ट) हो तो मजिस्ट्रेट ऐसे अभियुक्तों का संयुक्त विचारण कर सकता है।

●

अभियुक्त का परीक्षण

1. दंड प्रक्रिया संहिता 1973 में न्यायालय द्वारा अभियुक्त का परीक्षण अभियोजन साक्षियों के परीक्षण करने के पहले ऐसे किसी या कुछ साक्षियों के परीक्षण के बाद, और अभियोजन के सभी साक्षियों के परीक्षण के ठीक बाद आवश्यक रूप से करने के उपबन्ध हैं।

अभियोजन साक्षियों की साक्ष्य लेने से पूर्व परीक्षण :

2. अध्याय 19 (मजिस्ट्रेटों द्वारा वारन्ट मामलों का विचारण) में धारा 239 कहती है कि चार्ज बनाने या न बनाने के आदेश करने के पहले मजिस्ट्रेट, पुलिस चालान (चार्जशीट) और धारा 173 के अंतर्गत प्रस्तुत लेखों पर विचार कर, यदि चाहे तो, उपर्युक्त दस्तावेजों के आधार पर अभियुक्त का परीक्षण कर सकते हैं। अभियुक्त परीक्षण में जो उत्तर देगा उसका दस्तावेजों की वस्तु (मैटर) और उभय पक्ष की बहस में सामने आने वाली बातों के साथ उपयोग यह देखने के लिए किया जावेगा कि अभियुक्त के विरुद्ध चार्ज बनाने के लिए आधार है या आरोप आधारहीन है। इस धारा के अंतर्गत अभियुक्त का परीक्षण करना या न करना मजिस्ट्रेट के स्वविवेक पर छोड़ दिया गया है।

अभियोजन साक्ष्य आरंभ होने के बाद और उसकी समाप्ति के पूर्व परीक्षण

3. धारा 313 (1) (ए) कहती है कि अभियोजन साक्ष्य के लिए जाने के दौरान न्यायालय चाहे तो अभियुक्त को कोई पूर्व चेतावनी दिए बिना उसका परीक्षण इसलिए कर सकते हैं.कि वह साक्ष्य में अपने विरुद्ध आई परिस्थितियों के बारे में स्पष्टीकरण दे सकें।

4. नियम एवं आदेश (क्रिमिनल) के नियम 164 में उपर्युक्त परीक्षण की उपयोगिता इस तरह बताई गई है। चोरी के मामले में यदि अभियुक्त अभिकथित चोरी के माल के कब्जे में होने की बात स्वीकार करता है, तो इस विषय के अन्य अभियोजन साक्षियों को बिना परीक्षण किए छोड़ा जा सकता है।

अभियोजन साक्ष्य समाप्त होने के बाद का परीक्षण :

5. धारा 313 (1) खंड (बी) कहती है कि अभियोजन साक्ष्य समाप्त होने के ठीक

बाद–अभियुक्त को प्रतिरक्षा हेतु कहने के पहले – न्यायालय अभियुक्त का सारे मामले को दृष्टिगत रखते हुए आवश्यक रूप से अभियुक्त का परीक्षण करें कि वह साक्ष्य में अपने विरुद्ध आई परिस्थितियों के बारे में स्पष्टीकरण दे सके। (यदि समंस मामलों में अभियुक्त को व्यक्तिगत उपस्थिति की छूट नहीं है तो उस अभियुक्त का परीक्षण होगा।)

6. धारा 313 (2) कहती है कि अभियुक्त का धारा 313(1) के अंतर्गत परीक्षण करने के समय उसे शपथ प्रदान नहीं कराई जाएगी।

7. धारा 313 (3) कहती है कि अभियुक्त अपने परीक्षण में उत्तर देने से इंकार करे या प्रश्नों के झूठे उत्तर दे तो वह किसी कानूनी दंड पाने का पात्र नहीं होगा।

8. जिस जाँच (इन्क्वारी) या जिस विचारण (ट्रायल) में अभियुक्त का परीक्षण धारा 313 (1) के अंतर्गत होता है उस जाँच पर विचारण में उसके उत्तरों पर विचार किया जा सकेगा। उपर्युक्त परीक्षण के बाद, उस अभियुक्त के विरुद्ध कोई जाँच या विचारण किसी अन्य अपराध के लिए चले, तो उन कार्यवाहियों में पहले मामले में उसके द्वारा दिए उत्तरों को साक्ष्य में उसके पक्ष में या उसके विरुद्ध प्रस्तुत किया जा सकता है और उनका उपयोग किया जा सकता है।

9. यह ध्यान रखें कि अभियुक्त का ही परीक्षण होगा न कि उसके वकील का या उसकी ओर से किसी व्यक्ति का।

10. नियम एवं आदेश (क्रमिनल) का नियम 161 कहता है कि अभियुक्त का परीक्षण प्रतिपरीक्षण के समान नहीं करना चाहिए। यह परीक्षण अभियुक्त से ऐसी जानकारी लेने के लिए नहीं करना चाहिए जिससे अभियोजन साक्ष्य की भूल या लुप्तियों (गैप्स) पूर्ण किए जा सकें। इस नियम का नोट क्रमांक –1 है कि परीक्षण का उद्देश्य अभियुक्त को लाभ पहुँचाना है।

11. नियम 162 कहता है कि सामान्यतः यह उचित रहेगा कि अभियुक्त को प्रत्येक अभियोजन साक्षी के कथन में उसके (अभियुक्त के) विरुद्ध आई बातों के विषय में पूछना चाहिए। इस तरह अभियुक्त को प्रत्येक अभियोजन साक्षी की अभियोजन के प्रति झुकाव और अभियुक्त के विरुद्ध किसी हेतु (मोटिव्ह) पर कहने का अवसर मिलता है। साथ ही अभियोजन की छानबीन क्रमबंधन (मार्शलिंग) में सहायता होगी।

12. नियम 163 कहता है कि अभियुक्त से ऐसा प्रश्न न पूछें जैसे– "तुमने सुना है कि गवाहों ने क्या कहा है?", "तुम्हें क्या कहना है?"

13. कई तथ्यों के बारे में एक प्रश्न नहीं पूछना चाहिये।

14. यदि अभियुक्त का धारा 313 (1)(बी) के अंतर्गत परीक्षण न किया जावे तो उसकी दोष–सिद्धि अवैध घोषित की जा सकेगी। यदि अभियुक्त का प्रतिपरीक्षण के समान परीक्षण किया जावे, और उसे उसके विरुद्ध आई सभी विपरीत परिस्थितियों के विषय में स्पष्टीकरण देने का अवसर दिया जावे और इन दो परिस्थितियों में यह पाया जावे कि अभियुक्त को पूर्वाग्रह हुआ है तो भी उसकी दोष सिद्धि रद्द की जा सकती है।

15. यदि अभियुक्त उत्तर देने से इंकार करे या झूठे उत्तर दे तो इन परिस्थितियों में अभियोजन साक्ष्य की कमजोरी दूर नहीं होती और न अभियोजन की आरोप को बिना किसी युक्तियुक्त शंका के प्रमाणित करने का भार हल्का होगा।

16. धारा 281 बताती है कि अभियुक्त के परीक्षण का रिकार्ड किस तरह तैयार करें। धारा 281 (2) कहती है कि सत्र न्यायालय के न्यायाधीश और दंडाधिकारियों द्वारा पूछे गये प्रश्न और अभियुक्त द्वारा दिए गए उत्तर उसी रूप में न्यायाधीश/दंडाधिकारी लिखेंगे। यदि शारीरिक विवशता या किसी अन्य कारण से स्वयं न लिख सकें तो यह सब लिखने का काम उनके द्वारा इस हेतु नियुक्त किए न्यायालय का कर्मचारी उनके (न्यायाधीश) निर्देश और देखरेख में करेगा।

17. उपर्युक्त रिकार्ड अभियुक्त को दिखाया या पढ़कर सुनाया जावे या ऐसी भाषा में समझाया जावे जिसे वह समझता हो। उसे यह स्वतंत्रता रहेगी कि वह अपने उत्तरों के बारे में खुलासा भी दे सके या उस उत्तर में कुछ जोड़ सके।

18. उपर्युक्त रिकार्ड, यदि व्यवहारिक हो तो उस भाषा में बने जिसमें अभियुक्त का परीक्षण किया जावे अन्यथा यह रिकार्ड न्यायालय के लिए विहित घोषित भाषा में बनाया जावे।

19. इसके बाद अभियुक्त के उपर्युक्त रिकार्ड पर हस्ताक्षर करवाये जावें। न्यायाधीश/मजिस्ट्रेट उस रिकार्ड पर अपने हस्ताक्षर करें और अपने हाथ से उस रिकार्ड में ऐसा प्रमाणीकरण लिखें

    (अभियुक्त का परीक्षण मेरी उपस्थिति ओर सुनने में किया गया। इस रिकार्ड में अभियुक्त के कथन का पूरा–पूरा और सच्चा उल्लेख है।)

20. उपर्युक्त उपबन्ध समरी ट्रायल में अभियुक्त के परीक्षण के रिकार्ड को लागू नहीं होंगे। (देखें धारा 281 दं.प्र.सं.)

21. अभियुक्त के परीक्षण के महत्व को समझने के लिए निम्नलिखित न्याय दृष्टांतों का अध्ययन करें–

श्रीराम, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 175
आर.बी. चौका, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 110
वजीरचंद, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 315
तारासिंह, ए.आई.आर. 1951, एस.सी. 441
परीच्छत, ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 535

●

अपराधिक विचारणों में निर्णय

1. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 में निर्णय शब्द परिभाषित नहीं है।

2. निर्णय वह लिखतम है जिसमें विचारण न्यायालय साक्ष्य व दोनों पक्षों के तर्क पर विचार करके अभियुक्त को दोषमुक्त या दोषसिद्ध करने का निष्कर्ष अभिलिखित करता है।

3. धारा 354 (1) (दं.प्र.सं. 1973) के अनुसार निर्णय (धारा 272 दं.प्र.सं. के अंतर्गत राज्य सरकार द्वारा संहिता के प्रयोजन के लिए न्यायालयों द्वारा और न्यायालयीन कार्यवाहियों में प्रयोग के लिए विनिश्चत की गई)। न्यायालय की भाषा में लिखा जावेगा। निर्णय में विनिश्चय के लिए बिन्दु उन पर निष्कर्ष और निष्कर्षों के लिए कारणों का उल्लेख होगा। निर्णय के अंतिम अंश में यह उल्लेख होगा कि अभियुक्त को इंडियन पेनल कोड या अमुक विधि की अमुक धारा के अंतर्गत दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध और दंडित किया जाता है या दोषमुक्त और स्वतंत्र किया जाता है।

4. धारा 354(4) के अनुसार जिस अपराध के लिए एक वर्ष या उससे अधिक के लिए कारावास दंड की व्यवस्था कानून में हो उसके लिए दोषसिद्ध कर अभियुक्त को तीन मास से कम अवधि के लिए कारावास भुगतने का आदेश दिया जावे तो इस अवधि को चुनने का कारण निर्णय में लिखेगा पर समरी विचारण के, या न्यायालय के उठने तक की अवधि के लिए कारावास के दण्ड के, निर्णयों में ऐसे कारण लिखना आवश्यक नहीं है।

5. यदि न्यायालय दोषसिद्ध अभियुक्त को प्रताड़ना (एडमानिशन) करने या परिवीक्षा (प्रोबेशन) पर सक्षम होने पर भी उनका लाभ उसे नहीं देता है तो उसे ऐसा न करने का विशेष कारण निर्णय में लिखना पड़ेगा(देखें धारा 361, दं.प्र.सं.)

6. दोषसिद्ध अभियुक्त के कृत्य को अपराध की सज्ञा देने और दंडनीय बनाने वाले कानून में जो और जितना दंड बताया गया है उसे मजिस्ट्रेट दंड प्रक्रिया की

धारा 29 के अंतर्गत मिली दंडाज्ञा की शक्ति की सीमा के अंतर्गत दे सकता है। उदाहरणार्थ, न्यायिक दंडाधिकारी द्वितीय श्रेणी एक वर्ष से अधिक अवधि का कारावास नहीं दे सकता और एक हजार रुपये से अधिक अर्थदण्ड नहीं दे सकता।

7. न्यायिक अधिकारी अभियुक्त को दंड देने के समय हर बार संबंधित कानून का उपबन्ध पढ़े और धारा 29 (दं.प्र.सं.) के अंतर्गत अपनी सीमा निश्चित करने वाले उपबन्ध को पढ़े। यह सावधानी न बरती जाती तो दंडाज्ञा देने में कभी भी भूल होने पर न्यायिक अधिकारी को भूल का कडुआ फल खाना पड़ सकता है। विशेषतः ध्यान में रखें कि यदि दंड की व्यवस्था करने वाली कानून की धारा कहे कि कारावास और अर्थदण्ड होगा, तो दोनों किस्म के दण्ड देने चाहिए। कारावास का दण्ड आवश्यक तौर से देना पड़ेगा। केवल अर्थदण्ड दिया ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, धारा 380 (इंडियन पेनल कोड) में 7 वर्ष के कारावास दण्ड और अर्थदण्ड की व्यवस्था है।

8. यदि मजिस्ट्रेट की राय में दण्ड देने की क्षमता से अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए जो उससे अधिक शक्ति रखने वाला मजिस्ट्रेट दे सकता है तो निर्णय में दंडाज्ञा पारित न करें। मजिस्ट्रेट धारा 325 (दं.प्र.सं.) के अंतर्गत कार्यवाही कर मामले को वरिष्ठ मजिस्ट्रेट को अभिलेख भेजकर और अभियुक्त को उनके समक्ष पेश करने या प्रतिभूति पर उपस्थित रहने की व्यवस्था कर निदेश पर (रिफर करना) भेजना चाहिए।

9. धारा 353 में कहा गया है कि न्यायालय निर्णय को खुले न्यायालय में पढ़कर उद्घोषित (प्रोनाउन्स) करेगा। लिखित निर्णय के अंत में न्यायिक अधिकारी अपने हस्ताक्षर करके तारीख डालेंगे। (देखें धारा (1)(2) और (3)) धारा 353 को अध्ययन कर उसके अनुसार निर्णय दिया करें।

10. नियम एवं आदेश (क्रिमिनल) का नियम 245 कहता है कि यदि निर्णय में कारावास का दण्ड देने का विनिश्चय हो तो ऐसा निर्णय न्यायिक दण्डाधिकारी के मुख्यालय में पूर्वान्ह में ऐसे दिन होना चाहिए जिसके बाद वाले दिन न्यायालयों के छुट्टी के दिन न हो। जिस मामले में अभियुक्त विचारण के दौरान प्रतिभूति पर हो उसमें तो इस नियम का सदैव पालन करना चाहिए। हर निर्णय देने का समय आर्डरशीट पर लिखें।

11. धारा 362 (दं.प्र.सं.) कहती है कि दं.प्र.सं. के अन्य या तत्समय प्रचलित किसी कानून के किसी उपबन्ध से प्राधिकृत हुए बिना कोई न्यायालय अपना निर्णय

या किसी मामले में दिए अंतिम आदेश में कोई परिवर्तन (आल्ट्रेशन) नहीं करेगा और उस निर्णय या अंतिम आदेश को रिव्यू नहीं करेगा। परन्तु निर्णय या अंतिम आदेश में लिपिकीय या अंकगणितीय (एरिथमेटिकल) भूलों को सुधारने में उपर्युक्त नियम बन्धकारक नहीं रहेगा। लिखने में या टाइपिंग करने में हुई भूलें लिपिकीय भूलें हैं और अंकगणितीय भूलें गणना करने में हुई भूलें हैं और ये दोनों किस्मों की भूलें (एक्सीडेन्टल) लिखने में चूक (स्लिप) या लुप्ति करने (ओमीशन) से हुई होना चाहिए।

12. धारा 363 (1) कहती है कि न्यायालय निर्णय घोषित कर अभियुक्त को कारावास का दण्ड देने के तुरन्त बाद उसे निःशुल्क अपने निर्णय की प्रतिलिपि देगा। (उपधारा) (2) (5) और (6) भी देखें।)

13. नियम एवं आदेश (क्रिमिनल) का नियम 254 कहता है कि जब सत्र न्यायाधीश या न्यायिक दंडाधिकारी प्रथम श्रेणी (नियमित) फौजदारी मामलों में या न्यायिक दंडाधिकारी, द्वितीय श्रेणी, किसी अभियुक्त को इंडियन पेनल कोड के अध्याय 12, 16, 17 या 18 के अंतर्गत दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध करता है, तो उसे फार्म नं. 188 (शिड्यूल 5) के दो फार्मों के पिछले पृष्ठ पर बने स्थानों पर अभियुक्त की अंगुलियों के छाप अंकित करवायेगा। एक फार्म न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट की फाइन्डिंग और दंडाज्ञा वाले मामले के अभिलेख के अंग के रूप में रहेगा। दूसरे फार्म को भरा जावेगा और फाइन्डिंग और दंडाज्ञा की सत्य प्रतिलिपि के रूप में अभिप्रमाणित कागज के बतौर उस अभिलेख में अपील या निगरानी, यदि दायर की गई हो, में अंतिम निर्णय होने तक या अपील दायर करने की समयावधि समाप्त होने के पहले तक अपील न दायर होने पर उक्त समयावधि के समाप्त होने तक रिकार्ड में रखा जावेगा। यदि दोषसिद्ध अपील या निगरानी में रद्द नहीं हो फाइन्डिंग और दंडाज्ञा की अभिप्रमाणित प्रतिलिपि पर अपील या रिवीजन का परिणाम दर्ज कर उस पृष्ठांकन पर अपने हस्ताक्षर कर न्यायाधीश/मजिस्ट्रेट उस प्रतिलिपि का सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ पुलिस को भिजवा देंगे।

14. निर्णय में दोषसिद्ध अभियुक्त को कारावास का दण्ड सुनाकर उसे जेल में सजा भुगतने के लिए जेल वारन्ट (देखें दं.प्र.सं. के द्वितीय शेड्यूल का प्रोफार्मा नं. 34) में निर्णय की अंतिम कंडिका के अनुसार विवरण भरवायेंगे और उस कंडिका के विवरण और जेल वारन्ट पर अपने हस्ताक्षर करें और उस पर अपने न्यायालय की गोल सील लगवाएं। हस्ताक्षर के नीचे तारीख और हस्ताक्षर नाम–सील (यदि

हो तो) के द्वारा या लिखकर अपना पदनाम और विशेष अधिकार, यदि हो, का उल्लेख करें। जैसे न्यायिक दंडाधिकारी प्रथम श्रेणी....., मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी....., न्यायिक दंडाधिकारी प्रथम श्रेणी.....। धारा 260 (1) (सी) के अंतर्गत प्राधिकृत। उपर्युक्त किस्म की सावधानी न रखने पर वारंट में गंभीर भूल हो जाने की आशंका बनी रहेगी। (नोट : जेल वारन्ट में फौजदारी मामले की प्रस्तुति की तारीख भी लिखें।)

15. धारा 427, 428 और 429 के उपबन्ध किसी अभियुक्त को अपराध के लिए दोषसिद्धि के कारण कारावास दण्ड भुगताये जाने के संदर्भ में प्रासंगिक और महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

16. धारा 427 (1) कहती है कि एक व्यक्ति कारावास का दंड भुगतने के दौरान फिर दूसरे अपराध में कारावास या आजीवन कारावास का दण्ड पाता है, तो उसे पहली दोषसिद्धि का कारावास भुगतना पड़ेगा और उस कारावास की अवधि समाप्त होने पर ही उसकी दूसरी दोषसिद्धि में मिले कारावास या आजीवन कारावास का दंड भुगताया जावेगा। यदि दूसरी दोषसिद्धि के समय न्यायालय यह आदेश दे कि दूसरी दोषसिद्धि कारावास का दंड पहली दोषसिद्धि के कारावास के साथ–साथ भुगताया जावे, तो यह आदेश प्रभावशील बन जायेगा।

17. उपधारा (1) से संलग्न परन्तुक कहता है कि यदि किसी व्यक्ति को (धारा 106 या 117 के अंतर्गत जमानत न देने के कारण) धारा 122 के अंतर्गत निरूद्ध कर दिया गया हो और उसे इस निरोध अवधि में किसी ऐसे अपराध के लिए कारावास का दंड दिया जाना है, जो अपराध उसने धारा 122 के आदेश होने के पूर्व किया हो, तो धारा 122 के अंतर्गत उसकी निरोध की अवधि समाप्त होने पर ही, उसे अपराध के लिए दिए कारावास भुगताया जावेगा।

18. धारा 427 (2) कहती है कि जब आजीवन कारावास भुगत रहे अभियुक्त को दूसरे अपराध की दोषसिद्धि पर किसी अवधि के लिए कारावास या आजीवन कारावास का दण्ड मिलता है, तो कारावास का यह दण्ड पहले मिले कारावास के दण्ड के साथ–साथ ही भुगताया जावेगा।

19. धारा 428 कहती है कि जब किसी व्यक्ति को दोषसिद्धि पर कारावास का सारवान दण्ड दिया जावे तो उस दोषसिद्धि तक अनुसंधान जांच या विचारण के दौरान उसके निरोध में रहने की अवधि को उसे दोषसिद्धि में मिले कारावास के सारवान दण्ड में शामिल कर लिया जावेगा। पर जुर्माना न पटाने पर कारावास की सजा की अवधि में निरोध में गुजारी अवधि के कारण कम नहीं होगी।

20. धारा 429 (1) कहती है कि धारा 426 और 427 के उपबन्ध किसी व्यक्ति को उसे पूर्व में या पश्चात में हुई दोषसिद्धि में मिले दण्ड को कम नहीं करा सकेंगे।

21. धारा 429 (2) कहती है कि जब किसी अभियुक्त को दोषसिद्धि पर कारावास का सारवान दण्ड और अर्थदंड न पटाने की दशा में कारावास दण्ड मिलता है और यह व्यक्ति सारवान कारावास का दण्ड भुगत लेता है पर उसके बाद उसे एक या अधिक कारावास के दण्ड भुगतने हों तो इस सारवान कारावासों के भुगतने के बाद ही उसे जुर्माना संदाय न करने के लिए भुगताया जाने वाला कारावास दण्ड भुगताया जावेगा।

22. निर्णय लेखन के पूर्व रिकार्ड और संबंधित विधि के अध्ययन से मन में उपपत्तियों पर निष्कर्षों तक पहुंचने और उन निष्कर्षों के लिए कारणों का विनिश्चित कैसे करें, इस विषय में बताया जावेगा।

23. सबसे पहले, मामले के अभिलेख में ही कागज को नियमानुसार नस्तिबद्ध करवा न्यायिक दण्डाधिकारी देखेंगे कि वहां जहां उनके हस्ताक्षर होते हैं उनके हस्ताक्षर हो चुके हैं और अस्वीकृत या सिद्ध न हुए दस्तावेज हटाकार आखिरी फाइल के अंत में रख दिए गये हैं फिर उक्त अभिलेख के साथ मामले से संबंधित कानूनों की पुस्तकें और संबंधी न्यायदृष्टांत साथ रख अभिलेख का अध्ययन करें। जब तक न्यायिक अधिकारी अध्ययन के फलस्वरूप यह विनिश्चित न कर लें कि वे क्या उपपत्ति देंगे और उसके लिए क्या कारण देंगे उन्हें निर्णय लिखने का कार्य आरंभ नहीं करना चाहिए। जब यह सब तैयारी हो जावे तो निर्णय लिखें।

24. कम अनुभव वाले दंडाधिकारियों को निर्णय स्वयं लिखना चाहिए या (टांइपिंग जानते हों तो) स्वयं टाइप करना चाहिए। उन्हें डिक्टेशन के द्वारा लांग हैंड पर टाइप नहीं करवाना चाहिए। वे निर्णय का ड्राफ्ट लिखकर उसे टाइप करने के लिए दे दें।

25. निर्णय के शीर्ष वर्णन में प्रकरण के नंबर के बाद चार्ज शीट पेश होने कंपलेन्ट प्रस्तुत होने की तारीख निर्णय की पहली कंडिका में आरोप पत्र के आधार पर लिखें कि अभियुक्त या अभियुक्तों पर किस तरह के आरोप हैं।

26. इसके बाद की 2 या 3 कंडिकाओं में परिचयात्मक तथ्य, अभियुक्त को स्वीकृत तथ्य और अभियुक्त से चुनौती न पाए तथ्यों का उल्लेख करना चाहिए।

27. इसके बाद की 2 या 3 कंडिकाओं में अभियोजन के मामले की रूपरेखा

अभियोजन की दृष्टि से करें। अभियुक्तों और साक्षियों के नाम उनके क्रमांकों के साख लिखें, जैसे अभियुक्त–1 रहीम खाँ, अ.सा.–1 करीम खाँ।

28. इसके बाद अभियुक्त के बचाव की प्ली और बचाव कथन को दर्शायें और बतायें कि अभियुक्त के बचाव मे साक्ष्य दी है कि नहीं दी है।

29. इसके बाद मामले में उठने वाले विचारण के बिन्दुओं पर एक के बाद अलग–अलग कंडिकाओं में विचार करें। इस विचार में उन्हें साक्ष्य की छानबीन (मार्शलिंग) और साक्ष्य का मूल्यांकन (एप्रीसिएशन) करना है। यथासंभव विचार इस ढंग से व्यक्त हों कि न्यायिक अधिकारी का अंतिम मत या निष्कर्ष विचार के अंत में प्रकट हो न कि विचार करने के प्रारंभ में।

30. न्यायदृष्टांतों का विवरण ऐसा लिख कर करें राज्य विरुद्ध रामचरण ए.आई.आर. 1996 एस.सी. 211 याने पक्षकारों के नामों का उल्लेख न्यायदृष्टांत प्रकाशित करने वाली पत्रिका का विवरण दें।

31. अभियोजन साक्ष्य पर विचार करने के बाद प्रतिरक्षा साक्ष्य पर विचार करें और प्रतिरक्षा की प्ली पर विचार करें। (आवश्यक होने पर अभियोजन साक्ष्य के साथ ही विचार किया जा सकता है।)

32. इसके बाद सब उपपत्तियों पर दिए निष्कर्षों पर सम्यक् विचार कर अंतिम कंडिका में लिखें

"अभियुक्त (पूर्ण नाम) को भा.द.सं. की धारा 379 के अंतर्गत दण्डनीय अपराध के आरोप से दोष मुक्त किया जाता है उसे तत्काल स्वतंत्र किया जावे।"

33. प्रकरण में प्रस्तुत संपत्ति के विषय में निर्णय के अंत में आदेश करना चाहिए।

34. परिवादी, अभियुक्त या अन्य व्यक्ति को व्यय, हर्जाना इत्यादि देने के बारे में आदेश दें। (देखें धारा 357, 358, 453, 250 दं.प्र.सं. 1973) धारा 357 में म. प्र. अधिनियम क्रमांक 29/1978 (प्रभावशाली 5.10.1987 से) द्वारा संशोधन किए गये अंशों का पालन करना है न कि दं.प्र.सं. की धारा 357 की उपधारा (1) और (3) का।

35. नियम एवं आदेश (क्रिमिनल) के नियम 235 से 258 का गहन रूप से अध्ययन कर उनमें दिए निदेर्शों का पालन करते रहें।

आदेश 09 नियम 07 व्य. प्र. स. विस्तार

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

न्यायिक अधिकारी के रूप में संभवतः ऐसा अधिकारी अपवाद ही होगा जिसने आदेश 9 नियम 7 व्य.प्र.स. (आगे केवल 9:7 मात्र लिखेंगे) के अंतर्गत किसी कार्यवाही के अंतर्गत कोई आदेश पारित न किया हो। हम आपने 9:7 के प्रावधान को भी अच्छे से पढ़ा होगा यह मान सकते हैं। इस संबंध में निदर्शक दृष्टांत ***संग्राम सिंह विरुद्ध इलेक्शन ट्रियब्यूनल, ए.आय.आर. 1955 सु.को. 425*** एवं ***अर्जुनसिंह विरुद्ध मोहिंद्र कुमार, ए.आय.आर. 1964 सु.को. 933*** का भी समय–समय पर अवलोकन किया होगा। लेकिन समय–समय पर इनका पुनः अवलोकन होते रहना है क्योंकि कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकरण में जब समस्या आये तो निश्चित ही 9:7 के प्रावधान एवं उक्त दो दृष्टांत मार्ग प्रशस्त करते हैं, हमारी समस्या के निराकरण में।

त्वरित संदर्भ हेतु 9:7 के प्रावधान को नीचे पुनः उल्लेखित कर रहे हैं। साथ ही धारा 141 व्य.प्र.स. का भी खुलासा।

आ. 9 नि. 7 व्य.प्र.स. :– जहां प्रतिवादी स्थगित सुनवाई के दिन उपसंजात होता है और पूर्व अनुपसंजाति के लिए अच्छा हेतुक दिखाता है वह प्रक्रिया :– जहां न्यायालय ने एक पक्षीय रूप में वाद की सुनवाई स्थगित कर दी है और प्रतिवादी ऐसी सुनवाई के दिन या पहले उपसंजात होता है, और पूर्व अनुपसंजाती के लिए अच्छा हेतुक दिखाता है वहां ऐसे निबंधनों, जो न्यायालय खर्चों और अन्य बातों के बारे में निर्दिष्ट करे, उसे वाद के उत्तर में उसी भांति सुना जा सकेगा मानो वह अपनी उपसंजाति के लिए नियत किए गए दिन को उपसंजात हुआ था।

धारा 141 : प्रकीर्ण कार्यवाहियां – उस प्रक्रिया का जो वादों के विषय में इस संहिता में उपबन्धित है, दीवानी अधिकारिता वाले किसी भी न्यायालय में की सभी कार्यवाहियों में वहां तक अनुसरण किया जायेगा जहां तक वह लागू की जा सके।

स्पष्टीकरण : इस धारा में "कार्यवाही" शब्द के अन्तर्गत आदेश 9 के अधीन कार्यवाही है, किन्तु इसके अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही नहीं है।

9:7 के प्रावधानों को हम यदि विशलेषित करें तो उन्हें समझने में सुगमता होगी।

जहां न्यायालय ने **एक पक्षीय** रूप में वाद की **सुनवाई** (हियरिंग) स्थगित कर दी है तथा प्रतिवादी **ऐसी सुनवाई के दिन** या पहले उपसंजात होता है और अपनी **पूर्व अनुपसंजाति** के लिए **अच्छा हेतुक** दिखाता है वहां ऐसे निबंधनों पर जो

न्यायालय खर्चों और अन्य बातों के बारे में निर्दिष्ट करे उसे (प्रतिवादी को) **वाद के उत्तर में उसी भांति सुना जा सकेगा** मानो **वह अपनी उपसंजाति के लिए नियत किए गए दिन को उपसंजात हुआ था।**

उक्त प्रावधानों में जो बड़े व गहरे शब्द हैं उनका बड़ा गहरा महत्व है उस पर जोर देना आवश्यक है जिससे शब्दों का अर्थान्वयन हो सके।

प्रावधान को देखें तो यह ज्ञात होगा कि प्रतिवादी का आवेदन पत्र यदि 9:7 का स्वीकार हो जाता है तो परिणाम यह होगा कि मानो प्रतिवादी उस दिन अनुपस्थित रहा ही नहीं जिस रोज प्रतिवादी वास्तव में अनुपस्थित रहा था। अर्थात यदि प्रतिवादी उस तिथि पर अनुपस्थित नहीं रहा है ऐसा मान लेते हैं तो उस दिनांक को जो कार्यवाही प्रतिवादी प्रकरण में कर सकता था उसे करने का अवसर न्यायालय ने दिया है व उस अवसर का लाभ लेते हुए प्रतिवादी उस समस्त कार्यवाही को करने का अधिकारी रहेगा जो वह उक्त दिनांक को व तत्पश्चात अनुशांगिक रूप से कर सकता है। इसी आशय को लेकर सर्वोच्च न्यायालय ने 1955 के दृष्टांत में "पूर्व स्थिति ले जाना" (रेलिगेट बैक) शब्द प्रयोग कर समझाया है। उक्त दृष्टांत के हेड नोट 'सी' एवं पैराग्राफ 28 व 30 का पठन करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि जब प्रतिवादी को वाद में पूर्व स्थिति से सम्मिलित होना है तो उसे 9:7 का आवेदन पत्र प्रस्तुत करना होगा तथा न्यायालय यदि ऐसा आवेदन पत्र स्वीकार कर लेता है तो प्रतिवादी को ऐसा अधिकार प्राप्त हो जाता है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित करेंगे कि यदि प्रतिवादी ऐसा आवेदन प्रस्तुत नहीं करता व न्यायालय में उसके विरुद्ध लंबित वाद जो उसके पूर्व अनुपस्थिति के कारण एक पक्षीय हो गया था, में भाग लेना चाहता है तो क्या होगा। जैसे उत्तर वाद प्रस्तुत करने की तिथि पर प्रतिवादी उपस्थित नहीं हुआ व न्यायालय ने प्रतिवादी के विरुद्ध प्रकरण में एक पक्षीय कार्यवाही प्रारंभ की व प्रकरण वादी की साक्ष्य हेतु निर्धारित किया तो क्या होगा। उत्तर यह होना चाहिए कि प्रतिवादी उस रोज आकर यह नहीं कह सकेगा कि उसे उत्तरवाद प्रस्तुत करने का अधिकार है व न्यायालय उसे तब ऐसे अधिकार से वंचित कर सकेगी जब वह उस दिन उत्तर वाद प्रस्तुत करने के अधिकार की पुच्छा करें। लेकिन यदि प्रतिवादी उत्तर वाद भी प्रस्तुत नहीं करना चाहता व वादी के साक्षियों का प्रतिपरीक्षण करने की इच्छा प्रकट करें तो न्यायालय ऐसा करने से रोक नहीं सकेगी। न्यायालय उसे इस बात से भी रोक नहीं सकेगी कि वह अपनी साक्ष्य प्रस्तुत करे तथा गुण दोष पर तार्किक रूप से न्यायालय को अपना चिंतन प्रस्तुत करे। आगे हम यहां तक कह सकते हैं कि प्रकरण में प्रतिवादी

के विरुद्ध एक पक्षीय कार्यवाही हो जाने के पश्चात भी वह न्यायालय में उसके प्रकरण में कार्यवाही में भाग नहीं लेता है तथा केवल उस दिन उपस्थित होता है जिस दिन को वादी का प्रकरण साक्ष्य समाप्त होने के पश्चात केवल तर्क (आरग्यूमेन्ट) मात्र प्रस्तुत होने हेतु था। तब भी वह अपनी ओर से तर्क प्रस्तुत करने का अधिकार रखेगा व ऐसे अधिकार से न्यायालय उसे वंचित नहीं कर सकेगा। स्थापित नियम यह है कि प्रकरण में अंतिम तर्क की अवस्था (स्टेज) भी सुनवाई (हियरिंग) का ही अंग है। यह बात उक्त दो दृष्टांतों से स्पष्ट हो जाएगी। व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 18 नि. 2(2), (3) के प्रावधान अवलोकनीय हैं जिसमें पक्षकारों को अपने–अपने मामले के संबंध में न्यायालय को समग्र रूप से संबोधित करने का अधिकार है।

इस प्रकार 9:7 के प्रावधान को इस अवस्था में पुनः पढेंगे तो ज्ञात होगा कि प्रतिवादी के विरुद्ध चल रहे प्रकरण में उक्त प्रावधान के अंतर्गत आवेदन पत्र प्रस्तुत करने की अनिवार्यता नहीं है। उसकी इच्छा है कि वह ऐसा आवेदन पत्र प्रस्तुत करे अथवा न भी करे। उक्त प्रावधान यह नहीं दर्शाता कि आवेदन पत्र प्रस्तुत नहीं किया गया तो क्या परिणाम होगा। विपरीत इसके उक्त प्रावधान यह दर्शाते हैं कि प्रतिवादी यदि ऐसा आवेदन पत्र प्रस्तुत करता है तो प्रतिवादी को क्या अधिकार प्राप्त होगा। अर्थात प्रतिवादी को उक्त प्रावधान द्वारा अधिकार दिया गया है कि **यदि वह चाहे तो** पूर्वस्थिति से, जब से उसके विरुद्ध एक पक्षीय कार्यवाही की गई थी से, वह प्रकरण में भाग लेना चाहता है तो वह आवेदन पत्र दे सकेगा। न्यायालय युक्तियुक्त कारणों के आधार से आवेदन पत्र स्वीकार कर अनुमति दे सकेगा। इस प्रकार उक्त प्रावधान प्रतिवादी के लिए वास्तव में अधिकार का सृजन करता है न कि उसके अधिकार को वंचित करता है।

युक्तियुक्त कारण क्या हो सकेगा जिस आधार से न्यायालय ऐसा आवेदन पत्र स्वीकार कर सकेगा? पुनः यदि प्रावधान को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि अच्छा हेतुक (Good Cause) बताना मात्र पर्याप्त है। 1964 के उपर उल्लेखित दृष्टांत के चरण 20 टीप क्रमांक 'डी' देखने योग्य है, अच्छा हेतुक (Good Cause) तथा पर्याप्त हेतुक (Sufficient Cause) यद्यपि सदृश्य (Similar) हो सकते हैं परंतु अभिन्न, समरूप अथवा सर्वसम (Identical) नहीं मानना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि 9:7 के आवदेन पत्र के निराकरण के लिए पूर्व अनुपस्थिति के विषय में प्रतिवादी का आवेदन पत्र अच्छा हेतुक की सीमा तक पर्याप्त है। पर्याप्त हेतुक की सीमा तक उसे हेतुक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात अंतर केवल गुणात्मक मात्रा मात्र है। जैसे अन्य प्रावधानों के अतिरिक्त आदेश 9 नियम 4, 9 तथा नियम 13 में पर्याप्त हेतुक (Sufficient Cause) शब्द का प्रयोग किया है।

अच्छा हेतुक एवं पर्याप्त हेतुक का विश्लेषण 1964 का दृष्टांत इस प्रकार विश्लेषित करता है :–

इस नियम (9:7) में प्रतिवादी के विरुद्ध दिए गए आदेश को, अपास्त कराने के लिए अच्छा हेतुक दर्शाना आवश्यक होता है, जबकि नियम 4, 9 तथा 13 के अंतर्गत पर्याप्त हेतुक दर्शाना आवश्यक होता है। वास्तव में पर्याप्त हेतुक एवं अच्छे हेतुक में कोई विशेष अंतर नहीं है, फिर भी यह माना गया है कि पर्याप्त हेतुक अच्छे हेतुक से अधिक भारदस्त होकर अनुपस्थिति के आधार अच्छे हेतुक को देखते हुए पर्याप्त बताना आवश्यक है। पर्याप्त हेतुक के लिए जो प्रमाण आवश्यक हैं, उससे कुछ कम प्रमाण अच्छे हेतुक के लिए पर्याप्त होते हैं।

मर्यादा काल का जहां तक प्रश्न है अनुरोध यह है कि उक्त प्रावधान को पुनः अच्छे से पढ़ें। प्रावधान पढ़ने से यह ज्ञात होगा कि यदि प्रतिवादी ऐसा आवेदन पत्र प्रस्तुत करता है तो कितने दिन में प्रस्तुत करेगा यह नहीं बताया गया है। बताया यह गया है कि ".....और प्रतिवादी ऐसी सुनवाई के दिन या पहले उपसंजात होता है....." अर्थात प्रकरण जब तक सुनवाई के लिए निर्धारित होता रहेगा तब तक प्रतिवादी का यह अधिकार शाश्वत रूप से गतिमान बना रहेगा। जब सुनवाई पूर्ण हो चुकी है तो ऐसा आवेदन पत्र स्वयमेव पोषणीय नहीं रहेगा। कारण स्पष्ट है। जहां अब सुनवाई होना ही नहीं है वहां ऐसा आवेदन पत्र प्रस्तुत करने से परिणाम कुछ भी होना नहीं है क्योंकि प्रकरण में कुछ भी करना शेष नहीं रहा है। अब प्रश्न यह उपस्थित होगा कि प्रकरण में कब कुछ करना शेष रहेगा व कब कुछ भी करना शेष नहीं रहेगा। इसका उत्तर यह हो सकता है कि जब प्रकरण में पक्षकार ने साक्ष्य समाप्त कर दी हो तथा अंतिम तर्कों से न्यायालय को अवगत कर दिया हो तब प्रकरण में न्यायालय ने निर्णय हेतु तिथि निर्धारित कर दी है। अब यह स्थिति ऐसी है जहां पर पक्षकारों को कुछ भी करना शेष नहीं रहा है। न्यायालय को निर्णय मात्र पारित करना शेष है। इस प्रकार अंतर यह होगा कि जहां पर कोई प्रकरण प्रतिवादी के विरुद्ध एक पक्षीय हो गया हो तथा प्रकरण में अंतिम तर्क सुने जा चुके हैं जब तब प्रकरण में पक्षकारों को कुछ भी नहीं करना है जो कुछ करना है वह न्यायालय को करना है व निर्णय मात्र देना है। अर्थात जहां तक तर्क करना शेष हो या उसके पूर्व की कोई भी स्थिति हो वहां 9:7 का आवेदन पत्र पोषणीय रहेगा क्योंकि पक्षकारों को कुछ न कुछ करना शेष है। यदि प्रतिवादी को ऐसा आवेदन पत्र अंतिम तर्क के पश्चात पोषणीय रहेगा तो उसके लिए आदेश 09 नियम 13 व्य.प्र.स. के प्रावधानों के अंतर्गत उपचार उपलब्ध रहेगा। अर्थात यदि प्रतिवादी के विरुद्ध एक पक्षीय रूप

से दावा पारित होकर डिक्री हो जाती है तो ऐसे निर्णय डिक्री को आपास्त करने हेतु कार्यवाही हो सकेगी।

9:7 का आवेदन पत्र यदि प्रतिवादी ने प्रस्तुत किया तथा वह आवेदन पत्र यदि न्यायालय ने अस्वीकार किया तो प्रतिवादी को दो मार्ग उपलब्ध हैं।

यदि प्रकरण में अंतिम रूप से सुनवाई (हियरिंग) होकर प्रकरण निर्णय के लिए निर्धारित हुआ है तो स्वाभाविक रूप से ऐसा आवेदन पत्र अस्वीकार होना ही है तब प्रतिवादी निर्णय के पश्चात यदि वह निर्णय डिक्री से असंतुष्ट है तो आ. 9 नि. 13 के अंतर्गत एक पक्षीय निर्णय डिक्री निरस्त करने हेतु आवेदन पत्र दे सकता है। यह उपचार अन्य उपचार अपील के अतिरिक्त है।

यदि अंतिम तर्क के समय या उसके पूर्व अवस्था (स्टेज) के समय 9:7 का आवेदन पत्र प्रस्तुत किया है तथा वह आवेदन पत्र न्यायालय ने निरस्त कर दिया है तब वह उस अवस्था से प्रकरण की कार्यवाही में भाग ले सकेगा जिस अवस्था (स्टेज) के समय ऐसा आवेदन पत्र प्रस्तुत हुआ था। अंतर केवल यह होगा कि वह पूर्व अवस्था की सीमा तक लौटकर कार्यवाही में भाग नहीं ले सकेगा।

यह ध्यान रहे कि ऐसे आवेदन पत्र के निराकरण हेतु अच्छा हेतुक सकारात्मक दृष्टि से तथा उदारतापूर्वक विचार में लेना चाहिए। प्रक्रिया संबंधी विधि दांडिक नहीं है अपितु न्याय के उद्देश्य प्राप्ति हेतु है। ***श्रीनाथ विरुद्ध राजेश 1998 (2) एम. पी.एल.जे. पृष्ठ 180 निर्णय चरण 3*** में कहा है कि ".....The procedural law is always subservient to and is in aid to justice. Any interpretation which eludes or frustrates the recipient of justice is not to be followed. यही बात ***मनरामन विरुद्ध लक्ष्मीबाई 1981 (II) वि.नां. 99*** में इन शब्दों में कही है "Time fixed for filing written statement U/O 8 R. 10 may be extended exercising powers u/s 148 and 151. Provisions are not penal but are designed to fecilitate justice".

लेकिन एक दृष्टांत ***सुबालाचंदर राउत वि प्रफुल्ल कुमार ए.आय.आर. 1991, ओड़िसा 157*** का देखना होगा जिसमें कहा गया कि "In a case the other defendants appeared and were contesting the suit but defendant No. 1 did not. When defendant Nos. 2 to 5 already started to lead their evidence defendant No. 1 appeared and sought to assign good cause. The trial Court as also High Court treated his application to participate in the proceedings as a petition under O.9 R. 7 CPC and rejected the same but he was allowed to participate in the proceedings and also examine his witness.

कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायालय ने सारासार विवेक से प्रकरण की स्थिति, परिस्थिति पर विचार करके सुस्पष्ट चिंतनपूर्वक आदेश लिपिबद्ध करना चाहिए एवं कारणों को दर्शाना चाहिए।

अन्य दृष्टांतों जो विचारों को गति देने में सहायक हो सकेंगे वे इस प्रकार है

1. ***कैलाश कुमार वि. सप्तम अति. जिला न्यायाधीश, ए.आय.आर. 1989 म.प्र. 237।***
2. ***कुमार पिल्ले वि. थॉमस, ए.आय.आर. 1961 कर्नाटक 287।***
3. ***कीर्तिकुमार वि. जगतसिंह, ए.आय.आर. 1994 एन.ओ.सी 372 (इलाहाबाद)।***
4. ***देहली डेव्हलपमेंट वि. शांति, ए.आय.आर. 1982 देहली 159।***

स्मरण रहे ***जगदीश विरुद्ध जानकीबाई 1988 (1) म.प्र. विकली नोट्स 190*** के अनुसार एक पक्षीय आदेश निरस्त कराने हेतु दिए आवेदन पत्र के साथ शपथ पत्र प्रस्तुत करने का निर्देश दिया जा सकता है।

ऊपर धारा 141 व्य.प्र.सं. का उल्लेख किया है। उसका मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि आ. 9 व्य.प्र.सं. के अंतर्गत की जाने वाली कार्यवाही दावों से संबंधित है लेकिन अब नए संशोधन द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि 'कार्यवाही' शब्द के अंतर्गत आ. 9 के अंतर्गत कार्यवाही है। अर्थात जो प्रक्रिया दावों के लिए आ. 9 व्य.प्र.सं. की बताई है वह उसी अनुरूप में विविध कार्यवाही जो आदेश 9 के अंतर्गत होगी उसके लिए भी लागू होगी। जैसे प्रतिवादी/प्रार्थी ने एक आवेदन पत्र आ. 9 नि. 13 व्य.प्र.सं. के अंतर्गत प्रस्तुत किया जो उसके अनुपस्थिति में निरस्त हो गया तो उसे पुनः फाईल पर लाने हेतु कार्यवाही आ. 9 नि. 9 व्य.प्र.सं. सपठित धारा 141–151 अंतर्गत हो सकती है।

●

TO BE JUDGE

- Develop your ability to concertrate, relax and listen. Being receptive in the right frame of mind helps. You absorb a lot without reaching to it emotionally or letting your ego intervene.

न्यायाधीश होने हेतु

- आप अपनी क्षमता का उपयोग एक चित्त होकर श्रवण करने में व तनाव से मुक्त रहने में करें। सकारात्मक ग्रहणशीलता से आप किसी विषय को अपने अंह को ठेस पहुंचाए बगैर अच्छे से समझ सकते हैं।

पुस्तकों की उपयोगिता एवं उनकी उपेक्षा

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

हम न्यायिक अधिकारीगण, हमारा न्यायिक कार्य बिना विधि पुस्तकों के सफलतापूर्वक कर ही नहीं सकते। प्रत्येक कार्य के लिए विधि पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ती है। जिस प्रकार की व जितनी मात्रा में पुस्तकों की आवश्यकता होती है उस अनुरूप पुस्तकों की उपलब्धि संभव भी नहीं हो पाती है। यदि विभागीय ग्रंथालय संपन्न हो तथा आद्यतन उपलब्ध नवीन संस्करण युक्त पुस्तकों का परिचयन अच्छे से हुआ हो, तथा संकलनकर्ता अधिकारी ऐसे कार्य में क्षेत्रज्ञ अथवा प्रबुद्ध तथा जिज्ञासु, समुधर्मी एवं कर्मनिष्ठ हो तब पुस्तकालय की उपयोगिता अर्थपूर्ण हो जाती है।

फिर भी हमें समय–असयम में हमारे परिचित अथवा सहकर्मियों के माध्यम से भी पुस्तकों की पूर्ति करना पड़ती है। ऐसा हम आप सभी समय–समय पर सहज भाव से, नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण करते रहते हैं। उसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं करते हैं। यह हम इसलिए करते हैं कि संबंधित कार्य करते समय एक प्रकार की आतुरता, उत्कंठा और उत्सुकता होती है। आकांक्षा एवं उमंग के उक्त वातावरण में हम यथाशीघ्र पुस्तकों की उपलब्धि सुगम कर लेते हैं वह हम हमारा कार्य पूर्ण कर लेते हैं व संतोष की सांस लेते हैं। मनोमन मनोरथ सिद्धि की प्रसन्नता से अभिभूत एवं मंत्रमुग्ध होते रहते हैं।

इस भावावेश में हम यह भूल जाते हैं कि हमने दूसरों से पुस्तकें याचना करके निवेदन करके बुलाई थी। उन पुस्तकों पर से हमारी दृष्टि, ध्यान हट जाता है जब कार्य संपन्न हो जाता है, क्योंकि "क्योंकि गरज पड़े कछु और है, गरज सरे कछु और" के रूप में हमारी स्थिति होती है। उन पुस्तकों के प्रति तथा पुस्तकों को लौटाने के कर्त्तव्य के प्रति हम उदासीनता धारण कर लेते हैं। जिस व्यक्ति से, जिस संस्था से हमने पुस्तकें बुलवाई थीं उन्हें वापस लौटाने प्रतिप्रेषित करने की जिम्मेदारी, दायित्व हमारा है व बिना किसी विलंब के हमने उसका निर्वाह करना चाहिये। व्यक्ति या संस्था, जिसने पुस्तकें संग्रहित कर रखी हैं उन्हें यथा समय उन पुस्तकों की आवश्यकता पड़ती है तब उपलब्ध नहीं हो पाती है। कभी–कभी विस्मृति हो जाती है कि पुस्तकें किसको दी थीं। व्यक्ति विशेष का तो दायित्व नहीं होता कि वह पुस्तकें देने के पूर्व औपचारिक रूप से इस संबंध में प्रविष्टि करके रखेगा। वह व्यक्ति तो आपसी सद्भावना, सदाशयता एवं मधुर संबंधों के कारण पुस्तकें देता है व जब आवश्यकता

हो तो उसे ही पुस्तकें उपलब्ध नहीं होती हैं तो उसे आक्रोश होता है तथा स्वयं पर एवं पुस्तक मांगने वाले पर मन ही मन में आक्रोश व्यक्त करता है।

हम पुस्तकें लौटाते नहीं हैं तथा जिसने दी थी उसे भी विस्मृति हो जाती है एवं इस प्रकार ग्रंथों की उपयोगिता हम समाप्त कर देते हैं। भविष्य के लिये हम ऐसे सहृदय मित्रों को खो देते हैं व अलभ्य लाभ से सदैव वंचित रहते हैं व आपस में वितृष्णा, अप्रियता, तिरस्कार निर्मित होता है। यदि हमने पुस्तकें ग्रंथालय से मंगवाई हैं तब तो हमारे नाम पर उसकी प्रविष्टि होती है व भविष्य में भी हम उक्त पुस्तकों के लिए अथवा जब भी वसूली होगी, प्रचलित मूल्य दर से क्षतिपूर्ती करने हेतु दायी हो जाते हैं। आपको यदि मित्रों ने ग्रंथालय से उनके ही नाम से पुस्तकें निर्गमित कर दी हैं तो निश्चित ही उन पुस्तकों की अनुपलब्धि के लिए मित्र दायी रहेंगे। यदि हमने स्वयं अपने लिए पुस्तकें ग्रंथालय से निर्गमित कराई हैं व हमारे पास बिना कारण पड़ी हैं तो निश्चित ही उन पुस्तकों का लाभ लेने से अन्य जनों को बिना औचित्य के वंचित कर रहे हैं। यह सही हो सकता है कि हमारी प्रवृत्ति दूसरे को क्षतिकारित करने की न हो लेकिन यह हमारा अवगुण तो है ही, यह अनुचित एवं दोषपूर्ण भी है। यह सब कृत्य हमारी उपेक्षावृत्ति, उदासीनता, अवहेलना व लापरवाही को अनावृत करती है।

हमारे इस व्यवहार का सबसे चिंतनीय पहलू एवं आयाम यह है कि हमारे इस प्रकार के कृत्य के कारण हम अन्य ऐसे प्रबुद्धजनों को उन पुस्तकों के सदुपयोग से वंचित कर रहे हैं जो अपनी ज्ञान क्षुधा को शांत करना चाहते हैं, तृप्त करना चाहते हैं। जिस प्रकार हमें पुस्तकों की आवश्यकता है उसी अनुरूप अन्य जनों को भी समान रूप से आवश्यकता है।

इस प्रकार हम आपके लिए यह आवश्यक है कि हम नैतिक भावना से एवं कर्त्तव्य के रूप से भी पुस्तकों को अविलंब संबंधितों को लौटा दें तथा भविष्य में भी सतत् रूप से इसी भावना से परिपूर्ण, ओतप्रोत होकर इस अनुभूति को जीवित रखें।

He who destroys a good book, kills reason itself, kills the image of God, as it were in the eye.

MILTON JOHN

With every book you buy, you add a millimetre of your mental stature.

HAR DAYAL

आत्मघाती कृत्य

मित्रो! समय अपनी गति से संक्रमण कर रहा है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि हम–आपने ठहराव का मन बना लिया है। निष्क्रियता, अप्रयत्नशीलता, या यूं कहें अकर्मण्यता, उद्यमहीनता की सीमा तक हम आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी भावना यदि वरिष्ठ जनों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने लगे तो हमारे में कहीं न कहीं मूलभूत रूप से दोष है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। प्रतिदिन कहीं न कहीं से विभिन्न माध्यमों से हम आप के कानों पर अपनी या अपने भाई बांधवो के संबंध में अप्रिय बातें सामने आती हैं तो सुखद अनुभूति नहीं होती है।

कुछ समय पूर्व मुझे एक माननीय न्यायाधिपति महोदय ने उनके विश्राम कक्ष में बुलाया। फाईल दिखाई, कहा देखो क्या कहना है। दस साल से धारा 125 दंड प्रक्रिया संहिता का प्रकरण चल रहा है जिसमें अभि प्रतिप्रार्थी की साक्ष्य पूर्ण नहीं हो पा रही थी क्योंकि प्रतिप्रार्थी एक आरक्षक है व वह साक्षियों पर सूचना पत्र का निर्वाह नहीं होने देता। क्या न्यायालय इतने शक्तिहीन, अधिकार विहीन हो गए हैं कि एक आरक्षक ऐसी हिम्मत कर सकता है? मैंने माननीय न्यायाधिपति महोदय के विचार सुने। ऐसा लगा हम यांत्रिकीय दृष्टि से, कर्मचारी वृंद के भरोसे काम करते हैं। कर्मचारियों के साथ विश्वास से काम करना एक बात है, लेकिन किसी के भरोसे कार्य छोड़ देना एकदम कर्त्तव्यहीनता है। हम कठोरतापूर्वक कार्यवाही नहीं कर सके तो हम अपना कार्य निष्ठापूर्वक नहीं कर सकेंगे। उक्त प्रकरण पर विचारण न्यायालय का किसी भी दृष्टि से नियंत्रण नहीं था ऐसा उनका निश्चित विश्वास के साथ अभिमत था। मुझसे पूछने पर मैंने उन समस्त कारणों व समस्याओं का विवरण भी बताया कि क्यों कर भरण पोषण भत्तों के प्रकरणों में कुछ देरी हो जाती है। लेकिन प्रकरण से ऐसा लगा कि विचारण न्यायालय में आदेशिकाएं जो साक्ष्य हेतु लिखी गई थीं वे हमारी नित्य की आदतों के अनुसार ही लिखी गई थीं कि साक्षी उपस्थित नहीं पुनः आहूत हो। पीठासीन अधिकारी की कोई सक्रियता प्रदर्शित नहीं हो रही थी कि उसने अपनी ओर से प्रयत्न किया हो।

इसके विपरीत एक न्यायिक दंडाधिकारी की सक्रियता यह थी कि उसने अपनी पदीय मर्यादाओं का ध्यान रखा ही नहीं तथा आवेश में आरक्षी केंद्राधिकारी व पुलिस अधीक्षक को अशोभनीय शब्दों से पत्राचार किया। कपाल

पर बैठी मक्षिका को उड़ाने हाथ हिलाना पर्याप्त था लेकिन हमने पिस्तौल का प्रयोग किया। आहत कौन हुआ? किसी को कामचोर मक्कार जैसे शब्द प्रयोग कर के उद्‌बोधन करना आसान है लेकिन हम आप क्या उसी दोष के शिकार नहीं हैं या कि हमने ऐसे दुर्गुणों को हमारी आदत या प्रकृति अथवा स्वभाव बना लिया है। एक सुभाषित पढ़ा था। समीचीन है। कहा गया है कि Strong language do not add strength. अर्थात कठोर भाषा से प्रभाव उत्पन्न नहीं होता न परिणाम प्राप्त होता है।

पुनः एक बार माननीय न्यायाधिपति महोदय ने आहूत किया कहा प्रकरण देखो। प्रकरण देखा। कहा क्या देखा। मैंने कहा सब कुछ देखा। उन्होंने कहा बताओ क्या समझे। ये समझा कि अभियुक्त के विरुद्ध धारा 302 भा.द.वि. के अंतर्गत आरोप पत्र प्रस्तुंत हुआ था। आरोपी ने एक भजन कार्यक्रम में भाग लेने पश्चात किसी की हत्या कर दी थी। अभियुक्त का कहना था कि भजन के पश्चात उसका स्वास्थ्य खराब हो गया था व मानसिक रूप से ठीक नहीं था तो क्या हुआ पता नहीं। दूसरी तिथि हेतु न्यायालय ने अनुसंधान अधिकारी को आहूत करने का आदेश दिया कि पता लगाया जावे कि पुलिस ने अनुसंधान में आरोपी के मानसिक स्वास्थ्य की जांच की या नहीं। तत्‌पश्चात् अगले तिथि पर उक्त अधिकारी नहीं आया तो अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया गया क्योंकि यह मान लिया गया कि आरोपी के मानसिक स्वास्थ्य की जांच हुई या नहीं यह ज्ञात नहीं होता। माननीय महोदय ने दंड प्रक्रिया संहिता के ऐसे प्रावधान बताने का निर्देश दिया। मैं पिछले पंद्रह दिनों से पता लगा रहा हूं कि ऐसे कोई प्रावधान है या नहीं। ज्ञात प्रावधान तो केवल यह है कि आरोपी यदि अपनी प्रतिरक्षा के रूप में मानसिक अस्वस्थता या विक्षिप्त चित्त की बात कहे या अभिलेख से ऐसा ज्ञात या सिद्ध हो तो धारा 328 से धारा 339 दं.प्र.सं. की प्रक्रिया अपनाना चाहिए। आप भी मेरी सहायता करें।

प्रबोधन के माध्यम से बार–बार हमें यह कहा जा रहा है कि न्यायालयीन कार्य की लगाम पीठासीन अधिकारी को थामना है, न्यायिक प्रशासन पीठासीन अधिकारी को चलाना है न कि पक्षकार अधिवक्ता या कर्मचारियों के द्वारा चलना है। वे हमारी सहायता के लिये माध्यम मात्र हैं।

हम आपको इस विषय पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना होगा कि हमें कौन सा मार्ग अंगीकार करना है। हम अपने हाथों मिटे तो क्या मिटे। दोष इन हाथों को नहीं देना। प्रयत्नों का अभाव निराधार की कमी, दायित्व बोध का टोटा भी परखना है। संवेदनाओं को सत्ता के मद में नहीं सुलाना है।

HIGH COURT CIRCULAR

D.O. NO. 1111/iii-2-3/74 (304-2)
JABALPUR DT. 23RD JUNE 1998

Subject : Providing Free Legal Aid to the accused persons as and when required by them.

On the subject mentioned above. I am directed to inform you that the Hon'ble Chief Justice has been pleased to issue the following instructions for prompt future guidance and compliance :

"It has been decided that as and when accused is produced before the court, the concerned Presiding Officer shall enquire from the accused if he is not being represented by a Lawyer, whether he requires any free Legal Aid and if the accused requests for free Legal Aid, the Presiding Officer shall immediately summon the Legal Aid Officer of the District and ask him to move the authorities for providing free Legal Aid to such unrepresented accused right from the inspection of the case, but he shall not be permitted to engage a private Counsel."

Please to circulate the above insturctions to all the Judicial Officers working in your District for information and strict compliance in future.

●

MEMORANDUM NO. A/10022/III-2-9/40- (1) (12) JABALPUR. THE 14TH NOV. 1981 ISSUED BY HIGH COURT OF M.P.

Subject : Presentation of Criminal Appeals and Revisions and Bail Petitions in the courts of Additional Sessions Judge, Khargone and Barwani.

I am directed to invite your attention to your Office orders No. q/I-15-2/81, dated 24-8-1981 and No. Q/I-15-2/81, dated 11-9-1981, and to advise you to kindly withdraw the said orders immediately and to issue instructions that Additional Sessions Judges at Khargone and Barwani may receive memorandum of Criminal Appeals and Revisions, as provided under notes to rules 309 and 320 of the Rules & Orders (Criminal), and consider bail petition, if any, pass suitable interim orders, and thereafter to send the concerning order-sheets for registration in your office and for passing formal orders under sub-section (2) of Section 381 of the Code of Criminal Procedure.

●

- **"YOU NEED ONLY THREE THINGS TO GET TO THE TOP, I.E. TIE (TALENT, INTIGRITY AND EFFICIENCY)."**
- **"THE ONLY JOB YOU START AT THE TOP IS THAT YOU DIG A HOLE."**

TIT-BITS

1. **CONTRACT ACT SECTION 72 AND ARTICLE 24 LIMITATION ACT (1963) AIR 1998 SC 1629**
   MUNICIPAL CORPORATION VS. BOMBAY TYRES INTERNATIONAL LTD.

The Municipal Corporation supplied water to the respondant end charges were recovered from the respondent. Municipal Corporation framed appropriate rules and bye-laws. The rules were challenged and were not held in-valid for want of competence but on the ground that provision made was not clear.

Payment of charges is to be treated as made under mistake. Refund has to be claimed within reasonable time from date. Rules is struck down. Fact whether tax payer has passed on the burden of water charges to his customers not clearly made out allowing refund held would be inequitable. Regarding limitation Supreme Court held that rule levying water charges struck down in 1987 refund claim for charges paid period up to 1986 made in 1990 held there has been laches on the part of the claim in seeking relief in due time. Refund was disallowed.

Case referred : ***Nagpal's Case A.I.R. 1988 SC 1009*** and ***Mahabir Kishore Vs. State of M.P., A.I.R. 1990 SC 313.***

NOTE :

Please refer to 1975 M.P.L.J. Note No. 87 National Coal Development Corporation Vs. Government of M.P. Please also refer to A.I.R. 1965 SC 1773 (1775) Art. 62 Limitation Act 1908, A. Venkata Subba Rao and other 34 persons Vs. State of A.P. Also refer to following citations :-

1971 JLJ 505
Bishambhar Dayal, C.J. & S.P. Bhargava, J.
Caltex (India) Ltd. Indore Vs. Assistant Commissioner of Sales Tax and another.

1. Contract Act, 1872 - S. 72 - money paid under mistake recoverable-mistake includes mistake of law-estoppel in mistake of law-when arises - Evidence Act, 1872-S. 115.

   "It is clear that subject to the question of limitation, waiver or estoppel, money paid under mistake or coercion may be recovered under section 72 of the Contract Act. The right to relief under section 72 extends to money paid under mistake of law, i.e. mistake in thinking that the money paid was due when in fact it was not due. When the mistake of law is common to both the parties, there is no question of estoppel. 76 IA 244, (1959) SCR 1350 & 16 STC 689 relied on."

2. Limtation Act, 1908-Art. 96-money paid under mistake-time commence to run from the knowledge of the mistake knowledge of mistake based on judgment of superior Courts how to be inferred was explained.

3. Limitation Act, 1963-S. 17 & Art. 24-scope of.

   Under the Indian Limitation Act, 1908, a claim for relief on the ground of

mistake was governed by Article 96 and time commenced to run from the date when the mistake became konwn to the plaintiff, 1964 RN 217 - 1964 JLJ 115 relied on.

Article 96 has been omitted in the new limitation Act of 1963. However, section 17 (1)(c) of the new Act provides that in case of a suit for relief from the consequences of a mistake the period of limitation shall not begin to run until the plaintiff has discovered the mistake or could with reasonable deligence have discovered it. Thus under the new Act, the result would be the same as that provided in the Act of 1908.

Where the mistake of law could be discovered by a ruling of the Madras High Court and also by the later rulings of the Supreme Court and the Madhya Pradesh High Court, the petitioner in Madhya Pradesh could treat the date of the decision of the Supreme Court or of the Madhya Pradesh High Court as the date of knowledge.

4. Constitution of India-Art. 226- claim for return of money paid under mistake of law-writ petition filed within the period prescribed for a civil suit- High Court may grant relief.

Where sales tax was paid under a mistake of law, the High Court may order the refund of the amount in a writ petition, if the petition was not made beyond the period of limitation prescribed for a civil suit. **1964 EN 217=1964 JLJ 115 (SC), 16 STC 689 & 22 STC 524 relied on.**

AIR 1987 Karnataka 236

S. Kotrabasappa, Appellant Vs. The India Bank, Respondent.

Contract Act (1872), S. 72 - Mistaken credit in account of a person by Bank - Person utilising the amount such person is bound to repay or return that amount in view of S. 72 - He would also be liable to pay interest under Interest Act till the date of filing of suit and further to pay interest from date of suit till date of realisation under S. 34 (1) of Civil P.C. Interest Act (1978), S. 4(2) (b); (Civil P.C. (1908), S. 34 (1)).

AIR 1961 Madras 438 (V 48 C 142)

Muthupalaniapa Chettiar, Appellant Vs. Algamia Achi and others, Respondents.

The term 'debt' is no doubt commonly used to describe liabilities which have an origin in contract but the connotation of that term should not be restricted to such liabilities only. Anything due and payable is a debt.

When money is paid to a person who is not entitled to it, under the mistaken impressioin that the money was due to him, there is an obligation on him to refund the money and such liability must be deemed to have arisen on the date of the payment itself. **1910-1 K.B. 56. Rel. on.**

Where a debtor alleges that he overpaid his creditor under a mistake of law but makes the payment voluntarily he is not entitled to claim a refund of it : **A.I.R. 1933 Lah. 523. See also A.I.R. 1934 Mad. 420 : 67 M.L.J. 566.**

Money paid in excess under mistake of fact by officer of Courts-Claim for

refund by other creditors-Maintainability : 29 Bom. L.R. 1167. On this section see also **A.I.R. 1928 Lah. 316 : 111 I.C. 554.**

Occupation debt-connotation of - Money paid to person under mistaken impression that is was due to him-obligation to refund such amount is debt. See **I.L.R. (1961) Mad. 427 A.I.R. 1961 Mad. 438.** Please see **A.I.R. 1928 P.C. 261** also.

●

2. CR.P.C. SECTION 235 READ WITH SECTION 209
AIR 1998 SC 1693
SHOBIT CHAMAR VS. STATE OF BIHAR

Accused persons were convicted and sentenced to death in murder case. Sufficient opportunity of being heard given to them on question of sentence. It was alleged that compliance of Section 235 was not made. Here in particular case it was held that non-compliance of Section 235 did not vitiate the trial as sufficient time was given. Please refer to AIR 1989 SC 1456 (D) in which it was held that provision for giving of opportunity to the accused is mandatory. Trial court after recording conviction should adjourn the matter call upon the prosection and defence to place relevant material bearing on question of sentence before pronouncing sentence.

●

3. M.P. PUBLIC MONEYS (RECOVERY OF DUES) ACT (1 OF 1988) SECTION 3:
AIR 1998 M.P. 161
NEW LAXMI OIL MILLS, BARWAHA VS. BANK OF INDIA

Prohibition against challenge to correctness of certificate issued by the authority. It is justified in view of the object of Act, i.e. speedier recovery of Government and dues of specified institutions. The element of challenge action to question correctness of certificate are to seek injunction against any action is introduced, very delay which Act strives to avoid in recovery of dues will get reintroduced.

The extract from the paragraph 13 is reproduced here -

"It is clear from the object of the Act that the provision has been enacted for speedy recovery of certain classes of outstanding dues payable to the State Government, Government Company and certain categories of Corporation and Banking Company. One cannot be oblivious of the fact that if the element of the challenge to the action to question the correctness of the certificate or to seek injunction against any action is introduced and the parties are not prevented from seeking such relief from the Civil Court, the very delay which the Act strives to avoid in the recovery of the dues of the Government or the Corporation or the Banking Companies will get reintroduced thus frustrating its very object. The Apex Court in ***S.P. Chengalveraya Naidu Vs. Jagannath, AIR 1994 SC 853*** had an occasion to observe in very strong terms "we are contrained to say that more often than not, process of the Court is being abused. Property grabbers, tax-evaders, bank loan dodgers and other unscrupulous persons from all walks

of life find the court process a convenient lever to retain the illegal gains indefinitely." It is clear that it is to prevent these dilatory tactics that the said Act provides for a speedier remedy. One cannot forget that the State and its insturmentalities as also the Banking Companies need the funds in the time with a view to carry out their functions and if the recoveries are permitted to be impeded by an avoidable long drawn and protracted proceeding in Courts, recourse to normal legal remedy can be prohibited. The Banking Company entrusted with the power of issuing a recovery certificate is expected to act with a sense of responsibility and to take every prosecution against any error or omission. Such Officer can have no personal interest in the matter either to issue a certificate for an amount not due to the Bank nor can he do so as the recovery certificate is essentially based on the record maintained by the Bank in the course of its normal banking business. This apart the bank is normally expected to apprise the party concerned about the debt outstanding and, thus, to enable the affected party to place before the Officer concerned such material as it may choose to produce in controversion of the demand including the evidence with regard to the payments already made. In any case, sub-section (4) of Section 3, in a case of an agreement providing for arbitration between such a person and the Government or the Corporation permits a dispute, although the same connot be raised without first satisfying the demand. Such course is also provided in Section 150 of the M.P. Land Revenue Code, although a Civil Suit is specially barred."

●

4. MOTOR VEHICLE ACT SECTION 110-B
AIR 1998 M.P. 173
PULMATI BAI VS. PANCHAMSINGH

Family pension payable to wife of the deceased, driver, deducted not justiciable.

paragraph 7 of the judgment reproduced here :

"We have heard learned counsel for the parties and perused the record. the main issue to be decided in the present case is whether the amount of Rs. 400.00 p.m. which was drawn by the widow of the deceased towards family pension can be deducted while working out the dependency of the deceased's family for calculation of compensation. The family pension is paid in lieu of the services rendered by the incumbent and that is a secured amount notwithstanding the death of the incumbent. The compensation is normally paid to the dependents on account of the fact that because of the death of the deceased, the family members were deprived of the amount which he would have spent on the family members. Therefore, the dependency of the family members qua death of the deceased has to be worked out. Simply because the deceased might get some gratuity or pension in lieu of the services rendered by him, has nothing to do with the working out of the depndency of the family members of the deceased. What one has to work out is the actual dependency of the family members

on the deceased and if the deceased had lived, then how much he would have contributed towards the family members. Therefore, simply because the deceased's widow is getting some family pension, that should not be taken into consideration for working out the dependency of the family members of the deceased."

●

5. **HINDU SUCCESSION ACT SECTION 15 (1)(B)**
A.I.R. 1998 SC 1692
SEETALAKSHMI AMMAL VS. MUTHUVENKATARAMA IYENGAR

In para 4 of the judgment the Supreme Court held that :

"In order to decide who are th heirs of a female Hindu under category (b) of S. 15 (1), one does not have to go back to the date of the death of the husband to ascertain who were his heirs at that time. The heirs have to be ascertained not at the time of the wife's death because the succession opens only at the time of her death. Her heirs under S. 15 (1)(b) will have to be ascertained as if the succession to her husband had opened at the time of her death. Thus, if at the time of Gomathi Ammal's death, there is any heir of her husband who fits the description in the Schedule of being the widow of his predeceased son, she will be one of the heirs entitled to succeed. The status of the heir must be determined at the time of the female whose heirs are being ascertained."

●

6. **HINDU MARRIAGE ACT Ss. 12 (1) (b), (c), 5 (II) (C) :**
A.I.R. 1998 MADRAS 198
R. SANKARNARAYANAN VS. ANANDHAVALLI

Dissolution of marriage. Wife suffering from Schizophrenia which is bound to recur at any time. The doctor diagnoised that it is a mental illness and a person who is affected with the illness; natural behaviour would naturally be abnormal. Neither the intensity nor the frequency or recurrence of the illness cannot be predicted so far as this kind of illness is concerned. The father of the respondent lady admitted that the facts of respondent's treatment at Trivandrum hospital was suppressed. He has also stated that intentionally with fradulent motives they have suppressed the facts. The appellant husband categorically stated that if he had known about the said disease of the respondent he would not have been given his consent. Section 12 (1) (c) of the Act also is applicable in this case. As per the said section a marriage shall be voidable and may be annulled on the ground that the consent of the petitioner was obtained by force or by fraud as to the nature of the ceremony or as to any material fact or circumstance concerning the respondent. The opinion of the doctor is that the mental illness does not affect the normal behaviour and the person having this kind of illness can be termed as not sane. Therefore, there is insanity and recurrence of the attack of the mental disease. Certainly therefore the respondent's case can be brought under the provision of Section 12 (1) (b) read with section 5 (ii) (c) of the Act, It was held that obtaining sanction of the

husband without disclosing such fact certainly amounts to fraud. The husband would be entitled to decree for dissolution of marriage.

In para 18 case of ***Sujatha Vs. Hariharan (1995) 2 Mad. L.J. 327*** referring to another Bench of the same High Court had held as follows :

> ".....to have a cause of action for annulling a marriage under Section 12 (1) (c) of the Hindu Marriage Act, to constitute fraud there must be some abuse of confidential position, some intentional imposition or some deliberate concealment of material facts which are the fundamental basis of the marriage contract."

●

7. JOINDER OF CAUSE OF ACTION : O 2 R 3 CPC

AIR 1998 M.P. 152

PAHELWAN SINGH VS. LEELABAI AND OTHERS

The issue before the High Court was whether the court below was justified in proceeding with the trial of the suit which according to the petitioners contained pleas which should have been challenged by filing separate suits. In a nutshell the argument raised is that there is misjoinder of causes of action and also parties. With a view to sustain his claim, one Ram Sevak father of the plaintiff sold, different pieces of agricultural land on different occasions to different persons. There are 13 defendants and the different sale deeds were executed between the period 26.10.1985 to 8.10.1987.

The High Court opined that the course adopted by the plaintiffs in filing one single suit challenging ten transactions of sales made in favour of different persons would be bad in view of the provisions of O 2 Rule 3 of C.P.C. Had the sale been made in favour of one person on different dates, something could have been said in favour of the plaintiff. In this case the sale is to different persons on different dates of different portions of land. As such, the suit as filed would be bad and misjoinder of cause of action.

As such, the court below return the plaint to the plaintiff. The plaintiff would be at liberty to elect as to against which of the defendants he wants to prosecute the suit in question. He would be at liberty to file separate suits. In case different suit are filed them, the suits be tried together and disposed of by the same Court.

●

8. SECTION 10 CPC READ WITH ORDER 37 RULE 3

1998 (2) M.P.L.J. 101 SC

INDIAN BANK VS. MAHARASHTRA STATE CO-OPERATIVE MARKET ING FEDERATION LTD.

The fact and the findings of the Supreme Court are as under :

> "A Bank filed summary suit in the Bombay High Court under Order 37 of the Code of Civil Procedure claiming decree for an amount of Rs. 4,96,59,160/- alleging that the said amount was recoverable under

various Letters of Credit. The Bank took out summons for judgment. The defendant sought stay of the summary suit on the ground that it had instituted another suit against the Bank for recovery of Rs. 3,70,52,217.88 before filing of the summary suit. A single Judge of the High Court held that the concept of trial as contained in section 10 of the Code was not applicable to a summary suit and therefore the proceedings were not required to be stayed. Accordingly conditional leave to defend the suit was granted to the defendant. On appeal by the defendant, the Division Bench by its judgment since reported in 1996 (2) Mh.L.J. 925 held that section 10 of the Code applied to summary suits also. The appeal filed by the defendant was allowed and the summary suit was stayed till disposal of the prior suit. On appeal to the Supreme Court challenging the said Judgment by the plaintiff.

It was held : The word "trial" in section 10 of the Civil Procedure Code in the context of a summary suit cannot be interpreted to mean the entire proceedings starting with institution of the suit by lodging a plaint. In a summary suit "trial" begins after the Court grants leave to the defendant to contest the suit. Therefore the court dealing with the summary suit can proceed upto the stage of hearing the summons for judgment and passing judgment in favour of the plaintiff - (a) the defendant has not applied for leave to defend or if such application has been made and refused or if; (b) the defendant who is permitted to defend fails to comply with the conditions on which leave to defend is granted. The Division Bench of the Bombay High Court was in error in taking a different view. Appeal allowed. Order passed by the Single Judge restored. **1996 (2) Mh.L.J. 925,** Reversed, **AIR 1957 SC 444** Dist."

It was further held that :

"The word "trial" is no doubt of a very wide import as pointed out by the High Court. In legal parlance it means a judicial examination and determination of the issue in civil or criminal court by a competent Tribunal. According to Webster Comprehensive Dictionary, International Edition it means the examination, before a tribunal having assigned jurisdiction, of the facts or law involved in an issue in order to determine that issue. According to Stroud's Judicial Dictionary (5th Edition), a 'trial' is the conclusion, by a competent tribunal, of questions in issue in legal proceedings, whether civil or criminal. Thus in its widest sense it would include all the proceedings right from the stage of institution of a plaint in a civil case to the stage of final determination by a judgment and decree of the Court. Whether the widest meaning should be given to the word "trial" or that it should be construed narrowly must necessarily depend upon the nature and object of the provision and the context in which it used."

●

9. **SECTION 26 INDIAN ELECTRICITY ACT**
1998 (2) M.P.L.J. SHORT NOTE 5
VIJAY KUMAR VS. M.P.E.B.

The meter installed at consumer petitioner's Nursing Home was found defective for the period commencing from December/January, 1986 and the petitioner had been issued a bill prepared on average consumption of the electricity but subsequently a supplementary bill was issued by the M.P. Electricity Board making a demand to deposit of Rs. 9,260.67.

The respondent Electricity Board itself admitted that the meter was defective but neither alleged any fraud on the part of the petitioner nor that the same was tampered with by the petitioner, the supplementary bill raised was not justified and was liable to be quashed. The dispute should be referred to Electrical Inspector under Section 26 (6), as prayed for by the petitioner. **AIR 1985 MP 70** and **AIR 1988 SC 71** Rel.

●

10. **APROACH IN THE MATTER OF CONDONATION OF DELAY WHERE STATE SEEKS CONDONATION : SECTION 5 LIMITATION ACT AND O. 22, RR 4 AND 11 CPC :**
1998 (2) M.P.L.J. 25
STATE OF M.P. VS. RAGHU

The facts and findings of the Supreme Court are as under :

"The suit filed by the respondents was decreed. An appeal was preferred. That appeal was dismissed as having abated as legal representative of one Raghu were not brought on the record. Against that judgment, the present appeal has been preferred. There is delay in one matter of filing the appeal. The delay is of 108 days. The legal heirs of Raghu have also not been brought on the record. the supreme Court has observed that in the matter of condonation of delay where the state is a litigant, some latitude has to be seen. See : the following decisions :

(i) ***State of M.P. Vs. S.S. Akolkar, 1996 (2) SCC 568;*** (ii) ***State of Haryana Vs. Chandramani and others, 1996 (3) SCC 132;*** and (iii) ***Special Tahsildar, Land Acquisition, Kerala Vs. K.V. Avisumma, 1996 (10) SCC 634.***

As such, the delay in filing the appeal is condoned. The appeal is heard on merits.

The appeal was dismissed as having been abated. There was delay of 22 months. Taking into consideration the aforementioned decisions, the delay in the matter of bringing legal heirs of Raghu also condoned. While hearing the appeal it has been brought to my notice that the relevant revenue record for Samvat 2007 has not been placed on record by any of the parties. The State would make an endeavour to bring the same on record. This is because the nature of the land has to be seen on that date. Correspondingly, and opportunity would be

given to the plaintiffs respondents also to place on record the material.

The matter is accordingly remanded to the first appellate Court who would decide the appeal on merits."

●

11. ADVERSE POSSESSION : SECTION 248 M.P. LAND REVENUE CODE: 1998 (2) M.P.L.J. 26
LAL BAHADUR SINGH VS. STATE OF M.P.

The plaintiff was in possession of suit land for over 30 years and he also constructed a house in 1951. There was an abortive attempt by the State Government to evict the plaintiff by starting proceedings under Section 248 of the M.P. Land Revenue Code in the years 1968-69 and 1983-84 which ultimately culminated in favour of the plaintiff. This would not interrupt or arrest running of time against State so as to bar claim of plaintiff on the ground of adverse possession.

●

12. "SUITABLE ACCOMMODATION ACQUIRED BY TENANT" MEANING OF : M.P. ACCOMMODATION CONTROL ACT SECTION 12 (1) (l) : 1998 (2) M.P.L.J. 50
DUDHNATH HUKUM SINGH VS. ASHOK MAHADEV

The suit was for eviction of the tenant on the ground that the tenant has acquired vacant possession of accommodation suitable for his residence. What are the considerations and what are the relevant facts to be decided are as under :

Acquisition of accommodation by the wife, in all circumstances, would not amount to acquisition by the husband tenant. Similarly it cannot be said that acquisition of accommodation by the wife in no circumstance can be considered as acquisition of the tenant-husband. The same will depend upon the facts and circumstances of the case. In case of accommodation acquired by the wife is not available to the tenant-husband for any bona fide reason, the same may not be considered as accommodation being available for the husband tenant, notwithstanding the fact that the house was acquired by the wife from her own earning or from the earnings of the husband, the same shall be deemed to be acquisition by the tenant husband for the purpose of consideration of the ground of eviction. Landlord is not required to plead those words i.e. "suitable for his residence" in the plaint and in case the pleading fulfils the requirement of section 12 (1) (i) of the Act, the decree for eviction can be passed. **AIR 1987 SC 2220** Rel.

Reference was made to another ruling of ***Sachidanand Garg Vs. Govinda Maharaj, 1982 M.P.L.J. 129*** referring to the meaning of the word 'tenant'.

In this judgment the extract form the judgment of B.R. Mehta Vs. Atma Devi, AIR 1987 SC 2220 was also made which runs as under :

"There in no law according to which husband and wife could be deemed to be one person. Therefore, the correct position must be that if a wife or a

husband acquires a property and the other spouse that if he/she is the tenant, has a legal right by virtues of such acquisition or allotment of premises would desentitle or attract the provisions of Clause (h) of S. 14 (1), otherwise the whole purpose would be defeated. In other words if for all practical and real sense the tenant, acquired, built or was allotted another residence then his need for the old tenanted residence goes and the tenant loses his right to retain his tenanted premises. That is the rationale behind the scheme."

It was further held that a reading of the judgment of the Supreme Court closely, there is no difficulty in holding that as a general proposition of law acquistion of accommodation by the wife, in all circumstances, would not amount to acquisition by the husband tenant. Similarly it cannot be said that acquisition of accommodation by the wife in no circumstance can be considered as acquisition of the tenant husband. In my opinion, the same will depend upon the facts and circumstances of the case. In the case of ***Prem Chand Vs. Sher Singh, 1981 D.R.J. 287 (SC);*** the purchase of the accommodation by the wife was considered acquisition by the tenant for the purpose of eviction.

●

13. EXECUTION OF DECREE : SECTION 47 : DISPOSING OF THE OBJECTIONS : O. 21 R. 16 AND SECTION 146 C.P.C. :-
1998 (2) M.P.L.J. 230
MOHANLAL VS. DARBARILAL

DUTY OF THE COURT :- Executing Court has duty to find out the true effect of the decree. Court has to ascertain the circumstances under which these words came to be used.

For construing a decree, the executing court can, and in appropriate cases, ought to take into consideration the pleadings as well as the proceedings leading upto the decree. In order to find out the meaning of the words employed in a decree, the Court often has to ascertain the circumstances under which these words came to be used. That is the plain duty of the executing court and if that Court fails to discharge that duty, it would be deemed to have failed to exercise the jurisdiction vested in it. ***Bhavanwaja vs. Solanki, AIR 1972 SC 1371*** relied on.

Each and every objection as may be raised by the Judgment-Debtors or some third party, is not required to be adjudicated upon, unless the Executing Court, is able to find truth, genuineness and prima facie case in this regard. Otherwise, it shall become an absolute impossibility for the Decree-Holder to execute the decree, passed in his favour. Frivolous objections cannot be permitted. For ascertaining these facts, the Executing Court has to be careful, cautious and vigilant. There may be so many other factors, on the basis of which Executing Court, has to consider the objections. Needless to say, if the same fall within the framework of law, then the same should adjudicated upon as expeditiously as possible and preferably on day to day basis.

DECREE HOLDER : KARTA OF THE FAMILY :- Decree was obtained by the karta of the family. On his death person who was the Karta entitled to file

execution application. On death of Karta one of the two brothers surviving would be the Karta of HUF. ***Devidas vs. Shri Shailappa, AIR 1961 SC 1277, Hiralal vs. Bare AIR 1953 Nagpur 38 = 1952 NLJ 488*** referred to.

DEFECT IN EXECUTION DECREE :- If the Revisional Court had found that, there was some defect in the execution form, then, the same could not have been rejected outright, as the defects as found by the said court were not of such nature, which could not have been cured. No reasons were assigned for not giving an opportunity to the petitioners to cure the alleged defects.

NOTE :- Section 146 CPC :- It runs as under :-

PROCEEDINGS BY OR AGAINST REPRESENTATIVES :- Save as otherwise provided by this code or by any law for the time being in force, where any proceeding may be taken or application made by or against any person, then the proceeding may be taken or the application may be made by or against any person claiming under him.

●

14. WRITTEN STATEMENT NOT FILED : PLAINTIFF'S EVIDENCE CLOSED: DEPENDANT DISPUTING RATE OF RENT FILED AN APPLICATION UNDER O 13 R 2 CPC AFTER EVIDENCE OF PLAINTIFF
1998 (2) M.P.L.J. 158
UMA SHANKAR DWIVEDI VS. DEV MOORTY RADHAKRISHNA

Plaintiff filed a suit for ejectment. The applicant defendant Uma Shankar Dwivedi did not file written statement inspite of several opportunities. Plaintiff alleging rate of interest to be Rs. 250 per month. Plaintiffs's evidence closed. Defendant filed an application under Order 13 Rule 2 CPC It was held that defendant having failed to file any written statement and to raise such a plea he cannot be allowed to bring on record by indirect method. The evidence in support of the plea which was deliberately omitted once, the evidence of the plaintiff stood closed. The order of the Trial Court rejecting application was maintained. ***Ramesh Kumar vs. Mittanlal 1986 (1) M.P.W.N. Short Note 9*** was referred to. ***Ramesh Kumar vs. Keshav Ram 1992 AIR SCW 336*** and ***Siddik Mohammad vs. Mst. Saran AIR 1930 PC 57*** relied on.

●

15. MOTOR VEHICLE ACT SECTION 110-A : BROTHER DEPENDANT ON DECEASED ENTITLE TO COMPENSATION :
1998 (2) M.P.L.J. SHORT NOTE 18
UGAM BAI VS. RAVI SHANKAR

Brother of the deceased who was living with the parents and had weak eyesight to whom deceased was sending Rs. 700/- per month was not granted any compensation by the Claims Tribunal. It was held that such an application for compensation cannot be restricted to the relatives of the deceased, named in provisions of the Fatal Accidents Act, 1855. Brother also falls within the definition of legal representatives of the deceased. The mode of compensation was also administrated by the High Court.

Deceased 22 years of age. Dependency of family Rs. 700/- per month. Appropriate multiplier of 16. Multiplicand of Rs. 8400 per annum + Rs. 2500/- as loss of estate+Rs. 2000/- as funeral expenses were awarded. Total of Rs. 1,38,000 was awarded with interest at the rate of 12% from the date of application till the realisation of the amount. The owner and driver of the vehicle and insurer were made liable jointly.

●

16. ADVERSE INFERENCE UNDER SECTION 114 ILLUSTRATION (G) OF EVIDENCE ACT ;-
1998 (2) MPLJ SHORT NOTE 10
MUNIYABAI VS. GAVENDRA SINGH AND OTHERS

Denial of claim by non-applicant. Accident admitted death of passenger admitted. Negligence of driver denied. Eye witnesses not examined by claimant. The F.I.R. discloses that bus went off the road and turned turtle after striking a tree. Principle of Res Ipsa Loquitor, i.e. accident speaking for itself is applicable. Opposite party has to prove contrary. Driver did not enter the witness box. Inference under Section 114 Ill. (g) of Evidence Act could be drawn. Accident caused was due to negligence of driver.

●

17. SPECIFIC PERFORMANCE AND URBAN LAND CEILING ACT :
1998 (2) M.P.L.J. 189
M.C. CHOUBEY VS. NARBADESHWAR PRASAD

While relying on ***Mrs. Chandnee Vidhyavati Madden vs. Dr. C.L.Katilal, AIR 1964 SC 978*** it was held that in a suit for specific performance of agreement a sale deed was to be executed after obtaining permission from Competent Authority under Urban Land Ceiling Act. Such permission is not a condition precedent for passing decree for specific performance of contract. It would be a matter for consideration after passing of decree at the stage of execution. ***Ajit Prasad Jain vs. N.K. Vidhani A.I.R. 1990 Delhi 42*** was relied by the M.P. High Court. The extract from that ruling is reported as under :

> The permission from Land and Development office is not a condition precedent for grant of decree for specific performance. In ***Mrs. Chandnee Widya Vati Madden vs. Dr. C.L. Katilal, (1964) 2 SCR 495 = AIR 1964 SC 978*** the Supreme Court confirmed the decision of the Punjab High Court holding that if the Chief Commissioner ultimately refused to grant the sanction to the sale the plaintiff may not be able to enforce the decree for specific performance of the contract but that was no bar to the Court passing a decree for that relief. The same is the position in the present case. If after grant of a decree of specific performance of the contract the Land and Development office refuses to grant permission for sale the decree holder may not be in a position to enforce the decree but it cannot be held that such a permission is condition precedent for passing a decree for specific performance of the contract. I may also notice that S. 27 (1) of the Urban Land (Ceiling and Regulation) Act, in so far as it imposes a restriction on transfer of any urban or urbanised land with a building or a

portion of such building, which is within the ceiling area, was declared invalid but Supreme Court in ***Manaro Saheb Shri Bhim Singhji vs. Union of India, AIR 1981 SC 234,*** and as such it may not be necessary to obtain permission under the said Act but that is not a matter with which I am concerned at this stage. Assuming such a permission is required that would be a matter for consideration after passing of the decree and at the stage of execution No fault can be found out with the plaintiff's anxiousness to take possession in terms of the agreement on payment of the amounts stipulated therein."

●

18. SECTION 457 CR. P.C. BINDING NATURE ON CIVIL COURT AND PRECEDENT :-
1998 (2) M.P.L.J. 173
RAMCHARAN VS. RADHESHYAM

Supardgi proceedings under Section 457 Cr. P.C. are merely incidental proceedings. The observations therein regarding possession in such proceedings cannot have any evidentiary value and are not binding nor persuasive for a civil court unless there is independent evidence about possession.

PRECEDENT : When a legal point is not specifically argued and discussed in a judgement and is not decided, the judgment cannot be a precedent on that point on the mere assertion that the question should have been raised and was not raised and so much be deemed to have been decided in a particular manner.

●

19. RESISTANCE BY WHOM AND WHEN : O. 21 R. 97 CPC :-
1998 (2) M.P.L.J. 180
SHREENATH VS. RAJESH

Order 21, Rule 97, Civil Procedure Code conceives of cases where delivery of possession to decree-holder or purchaser is resisted by any person. The expression "any person" under sub-clause (1) is used deliberately for widening the scope of power so that the Executing Court could adjudicate the claim made in any such application under Order 21, Rule 97. The words "any person" includes all persons resisting the delivery of possession, claiming, right in the property, even those not bound by the decree, includes tenants or other persons claiming right in the property, on his own, if resists delivery of possession to the decree-holder, the dispute and his claim has to be decided after 1976 Amendment of the Code of Civil Procedure prior by Act 104 of 1976 under Order 21, Rule 97 read with Rule 101 and to the amendment under Rule 97 read with Rule 99. However, under the old law in case order is passed against the person resisting possession under Rule 97 read with rule 99 then by virtue of Rule 103, as it then was, he had to file a suit to establish his right. But now after the amendment one need not file suit even in such case as all disputes are to be settled by the Executing Court itself finally under Rule 101. ***Usha Jain vs. Manmohan Bajaj 1980 MPLJ 623 =AIR 1980 MP 146*** was over ruled and order of the High Court in Civil Revision No. 406 of 1983 dated

20.2.1985 (the present subject matter of the case) is reversed. ***Brahmadeo vs. Rishikesh Prasad, 1997 (3) SCC 694, Nuruddin vs. Dr. K.L. Anand 1995 (1) SCC 242 and AIR 1997 SC 856*** referred to.

Please also refer to ***A.I.R. 1998 SC 1754 Silverline Forum Private Ltd. vs. Rajeev Trust*** in which it was held that in execution of decree power of the executing court and the scope is that if there is a resistance to execution of decree by third party, even that can be looked into if adjudication is warranted.

INTERPRETATION OF STATUTES : PROCEDURAL LAW HOW TO BE INTERPRETED :-

In interpreting any procedural law where more than one interpretation is possible the one which curtails the procedure without eluding (avoid or dodge or scap or evade) justice is to be adopted. The procedural law is always subservient to and is in aid to justice. Any interpretation which eludes or frustrates the recipient of justice is not to be followed.

●

20. HINDU MARRIAGE ACT SECTION 25 : PERMANENT ALIMONY:
1998 (2) M.P.L.J. 215
KANHAIYALAL VS. SMT. CHANDABAI

Where prayer for grant of permanent alimony is made in the matrimonial petition itself filed under the Hindu Marriage Act that is sufficient for invoking the powers of the Court in view of the provisions of Section 25 of the Act. Court can grant it in the absence of separate application.

●

21. MEMORY OF WITNESS - TO FADE :-
1998 (2) VIDHI BHASHWAR (V.B.) 53
GHISA VS. STATE

SECTIONS 45 AND 156 EVIDENCE ACT :-

In para 6 of the Judgment the High Court held that,"It has to be kept in mind that the occurrence had taken place in January 1986 and the statement of Babribai was recorded in November 1988 i.e. nearly 3 years after. Such contradiction is natural. To my mind no capital can be derived out of this statement. The F.I.R. is prompt as it was lodged on the same day."

SECTION 154 CR. P. C. :-

FIR in sexual offence lodged after arrival of father of prosecutrix - is promptly lodged FIR. In para 6 of the judgment it was further held that,

"the contention of the learned Counsel that the FIR was lodged on the next day as is evident from the statement of Babribai cannot be accepted. A perusal of the statement of Babribai as mentioned above shows that she had stated that Mannu had returned on the next morning and he had gone to lodge report next morning."

It was held that the FIR is prompt as it was lodged on the same day at 23.15 hours.

●

22. MOTOR VEHICLE ACT SECTION 166 :-
1998 (2) V.B. 8
TEJ SINGH VS. M.P. STATE ROAD TRANSPORT CORPORATION

In para 4 of the judgment it was held that :-

"It is well settled that in motor accident cases when plea of inevitable accident is raised the burden lies on the party who raises the plea. In other words, the person defending the claim has to show that his conduct was utterly without fault i.e. without negligence. In the legal sense the act of God (vis major) may be defined as an extraordinary occurrence or circumstance which could not have been foreseen and could not have been guarded against, or more accurately as an accident due to natural causes, directly and exclusively without human intervention. It is a direct violent, sudden and irresistible act of nature as could not, by any amount of ability, have been foreseen, or if foreseen, could not by any amount of human care and skill have been resisted. Some of the well-known circumstances of acts of God are; a violent storm at sea, an extraordinarily high tide, an unprecedented rainfall, an extraordinary flood, an earthquake, fire caused by lightning, an extraordinary frost, an extraordinary snowfall and like. They are in a sense inevitable accidents beyond the control of man. **Vis major**, must be the proximate cause, the **causa causans** and not merely a **causa sina qua non** of the damage complained of. The mere fact that **vis major** co-existed with or followed on the negligence is no adequate defence. Before an act of God may be admitted as an excuse, the party taking the plea must have done all that he is bound to do. See Halsbury's Laws of England Vol. 9, Fourth Edition, Page 323, para 458 and Ratanlal & Dhirajlal's The Law of Torts, 23rd Edition by Justice G. P. Singh page 443, 444."

It was further held in para 6 that,

"The law is well settled that every mechanical defect or faillure which causes or results in an accident cannot be attributed to an 'act of God' or be termed an 'inevitable accident'. In order to succeed in a defence that the accident was due to a mechanical defect, the owners have to prove that they had taken all necessary precautions and kept the vehicle in a road-worthy condition and that the defect occurred inspite of the reasonable care and caution taken by the owner of the vehicle. In order to sustain a plea that the accident was due to the mechanical defect the owners must raise a plea that the defect was latent and not discoverable by the use of reasonable care. If it is established that inspite of reasonable care, the defect remained hidden the owner would not be liable. See - ***Minu B. Mehta and another vs. Balkrishna Ram chandra Narayan and another (AIR 1977 SC 1248)".***

DAMAGES FOR MENTAL AND PHYSICAL SHOCK :-

So far non-pecuniary damages are concerned, they may include : (i) damages for mental and physical shock, pain, suffering, already suffered or likely to be suffered in future; (ii)damages to compensate for the loss of

amenities of life which may include a variety of matters, i.e. on account of injury the clamant may not be able to walk, run or sit; (iii) damages for the loss of expectation of life, i.e. on account of injury the normal longevity of the person concerned is shortened; (iv) inconvenience, hardship, discomfort,dis-appointment, frustration and mental stree in life.

●

23. SECTION 50 N.D.P.S. ACT :-
1998 (2) V.B. 34
MEWA RAM VS. STATE

Accused had given the option to be searched in the presence of Magistrate or Gazetted Officer. Accused agreed to be searched by Police Officer. Provisions complied within its letter and spirit.

In para 7 of the judgment it was held as under :-

"On appreciation of evidence I find that what Mr. Salim argues is correct. The police papers produced at Exs. P-1 onwards proved that whole of the process is followed in every word and letter as also the spirit of the provisions of law. The time chain also is amply secured. It is not unreasonable that the officials had received the information at about 4.55 p.m. and they reached the spot at about 6 p.m. or so and searched the person of the appellant at 6.34 p.m. So far as the use of torch light is concerned, it is not uncommon that after 6.30 if the process is continued there would be darkness particularly on the riverside where it is not expected that there would be a street light. The fact is proved by Ex. P-7 that the search of the appellant was made at 18.34 hours under his own signature and the signatures of the Panchas. In that view of the matter, I agree with the learned Public Prosecutor that the time chain is not missing anywhere. In such circumstances, I agree with the submissions of the learned Public Prosecutor that everything that was required under S. 50 of the NDPS Act has been followed in its letter and spirit. The evidence led on the part of the prosecution is firm enough to hold that the accused is guilty of the offence for which he is convicted. In that view of the matter, I confirm the order of conviction and sentence. I find no merit in the appeal and the same is dismissed."

●

24. SANCTION FOR PROSECUTION - SECTION 197 CR. P.C. READ WITH ARTICLE 12 CONSTITUTION OF INDIA :-
A.I.R. 1998 SC 1945
MOHD. HADI RAJA VS. STATE OF BIHAR

For the purpose of enforcing the fundamental rights, the public undertakings which, on account of deep and pervasive control, can be held to be a State within the meaning of Art. 12 has been treated at par with the government department but in all its facets, public undertaking has not been equated with the department run directly by the government. Though through the contrivance or mechanism of corporate structure, some of the public undertakings are performing the functions which are intended to be performed by the State, ex-

facie, such instrumentality or agency being a juridicial person has an independent status and the action taken by them, however important the same may be in the interest of the State cannot be held to be an action taken by or on behalf of the government as such within the meaning of S. 197, Cr. P. C. Therefore, the protection by way of sanction under S. 197 of the Code of Criminal Procedure is not applicable to the officers of Government Companies or the public undertakings even when such public undertakings are 'State' within the meaning of Art. 12 of the Constitution on account of deep and pervasive control of the government.

●

25. BANKING LOAN - RATE OF INTEREST - SECTION 21-A BANKING REGULATION ACT :-

A.I.R. 1998 A. P. 259

UNION BANK OF INDIA VS. VEGUNTA SAROJINI DEVI

Agricultural loan advanced by bank, compounding of interest with half yearly rests on that loan by bank not justified. Bank however, is entitled to compound interest with yearly rests.

A reference was made to the case of **Corporation Bank, (1994) 5 SCC 213 =1994 AIR SCW** 2721 in which it was held that :-

"In so far as Civil Appeal No. 544/86 is concerned it relates to the bank's right to charge compound interest i.e. interest with periodical rests on agricultural advance. We have already referred to various circulars issued by the Reserve Bank from time to time in exercise of power conferred by S. 21 (2) (e) of the Banking Regulation Act. We have pointed out that the said circulars/directives provide that the agricultural advances should not be treated on par with commercial loans in so far as the rate of interest thereon is concerned because the farmers do not have any regular source of income except sale proceeds of their crops which income they get once a year. The question of recovery of interest with quarterly or six monthly rests from farmers is therefore not feasible. The fact that the farmers are fluid at a given point of time every year has to be kept in mind in determining the point of time when they should be expected to repay the loan or pay the instalments/interest on advances. Therefore to allow the banks to charge interest on quarterly or half yearly rests from farmers would tent amount to virtually compelling them to pay compound interest, since they would not be able to pay the interest except once in a year, i.e. when they receive income from sale proceeds of their crops. The Reserve Bank has shown concern for the farmers by directing all banking institutions to so regulate the recovery of interest as to coincide with the point of time when the farmers are fluid. It has therefore been emphasised by the Reserve Bank that interest should be charged once in a year to coincide with point of time when the farmer is fluid and interest on current dues should not be compounded although it may be done when the advance/instalments becomes overdue. Thus according to the circulars/directives so far as loans for agricultural purposes are concerned at best interest may be charged with yearly rests and may be compound if the loan/instalment becomes overdue. In the present case since the interest was charged with six monthly rests that was clearly in

contravention of the Reserve Bank circulars/directives, compounding of interest on current dues on agricultural advances having been discouraged the bank was entitled to charge interest with shorter periodical rests and compound the same. The bank would add interest outstanding to the principal and compound the interest when the crop loan or term loan becomes overdue having regard to the tenor of the circular dt. 14.3.1972. The High Court was fully justified in coming to the conclusion that the bank was not entitled to charge interest with half yearly rests."

●

26. DISTINCTION BETWEEN SECTION 25 CONTRACT ACT AND SECTION 19 LIMITATION ACT EXPLAINED :-
AIR 1998 ORISSA 129
STATE BANK OF INDIA VS. DILIP CHANDRA SINGH DEO

Suit for recovery of time barred debt against legal heir of deceased borrower. Admission by legal heir in his deposition indicating willingness for payment of principal sum. Admittedly document exhibit P-9 was written by the non-appellant (See para 7 of the judgment). The letter was of 29.12.1981.

The letter written by the respondent was as under :-

To
The Manager,
S. B. I., Cuttack,

Sub. : O/D of Late Smt. Durgesh Nandini Devi.

With reference to the above O/D of our Late mother Smt. Durgesh Nandini Devi we enclose a payment of Rs. 500/- by Cheque No. X36944 towards the first instalment.

We will undertake to clear the arrear over draft at Rs. 500/- or more or substantial amounts thereafter per month. Kindly acknowledge the payment and forward us a statement of accounts of the above account. As matters are being settled for regular receipts of funds, we will be in a position to make regular payments towards the above said arrear account.

Yours faithfully,
(sd/-)
(Dilip Chandra Singh Deo)
Tulsipur, Cuttack-8

A perusal of the aforesaid document indicates that there is no definite undertaking on the part of the defendant in praesenti promising to pay any definite amount to the drawal made by her. The expression"..... will undertake to clear the arrear over draft at Rs. 500/- or more or substantial amounts thereafter per month" rather indicates that the defendant was contemplating something to be done in future. In the said letter, the defendant had requested for a statement of accounts of the O.D. account of his mother. The aforesaid letter can go to the extent that the defendant was contemplating to clear up the dues of his mother in future and had, in fact, paid a sum of Rs. 500/- but it cannot

be definitely said that he had already agreed to pay the entire dues. The use of the expression "We" at several places in Ext. 9 rather goes to show that as if the legal representatives of late Durgesh Nandini Devi wanted to clear up the dues. At any rate, from all the dues of his mother although it indicates his willingness to undertake in future to clear the arrear overdraft dues. Since the terms were not definite and no clear undertaking in praesenti had been spelt out, I am unable to accept the contention of the learned counsel for the appellant that a new contract under Section 25 (3) of the Contract Act had come into existence.

The respondent in his written statement in para 3 stated that he is willing to pay the legal dues of his mother. In para 5 of the written statement he further stated that he has seen the statement of account filed in the Court is only willing to pay the principal amount of Rs. 6,000/- but not willing to pay so much interest.

The High Court further held that,

> "In view of such admission of the defendant in deposition indicating his willingness to pay a sum of Rs. 6,000/- the claim of the appellant Bank can be accepted to the above extent even though the suit itself was barred by time. if the defendant could have extended the period of limitation by acknowledging his liability in accordance with Section 19 of the Limitation Act, or entered into a fresh contract in respect of a time-barred debt in accordance with section 25 of the contract Act, there is no reason why he cannot be found liable in a time-barred suit on the basis of admission made in the deposition in such suit."

Referring to ***AIR 1988 Orissa 50 State Bank of India Vs. Vathi Samba Murthy***, following the judgment of ***Chandradhar Goswami Vs. Gauhati Bank Ltd., AIR 1967 SC 1058*** held that, keeping in view the aforesaid decisions, it is held that the amount of Rs. 6,000/- as admitted by the defendant would be realised by calculating simple interest at the rate of six percent annum from the date of such admission, i.e. to say from 24.1.1987. (Perhaps the date of the filing of written statement)

NOTE : Judicial Officers are requested to go through the whole judgment to understand the principle of Section 25 of Contract Act and section 19 of the Limitation Act.

●

27. SECTION 53-A T.P. ACT AND O.39 RR. 1&2 CPC : WANT OF WRITTEN AGREEMENT
A.I.R. 1998 A.P. 285
LEPROSY MISSION VS. NALLAMILLI VEERA VENKATA SATYANNARAYAN REDDY

In para 4 of the judgment it was held as under :

> "Section 53-A of the Transfer of Property Act contemplates a contract in writting and delivery of possession in pursuance of the said contract. On satisfying these two conditions, the palintiff can institute a suit for specific performance of agreement for sale and seek protection of his possession. But in this case, there is not even a scrap of paper to show that the respondent was delivered possession by the appellants at any

time. In fact there is no written contract which has come into existence. In the absence of any written contract, Sec. 53-A of Transfer of Property Act cannot be taken aid of by the respondent. We may also observe that the respondent has not even furnished the date on which the possession was delivered to him in his affidavit or the person who have delivered possession. As the appellants is a registered institution, we are of the opinion that unless possession was delivered by a person authorised by the institution, it cannot be a valid possession under law. Therefore, it follows that the respondent cannot claim injunction against the real owner. As such the order of the lower Court granting injunction has to be set aside."

●

28. REMISSION OF SENTENCE : GOVERNOR'S POWERS : JUDICIAL REVIEW/ARTICLES 161 & 133 OF THE CONSTITUTION OF INDIA: A.I.R. 1998 SC 2026
SWARAN SINGH VS. STATE OF U.P.

In paragraphs 12 and 13 of the judgment it was said that :

"In view of the aforesaid settled legal position, we cannot accept the rigid contention of the learned counsel for the third respondent that this Court has no power to touch the order passed by the Governor under Article 161 of the Constitution. If such power was exercised arbitratily, mala fide or in absolute disregard of the finer canons of the constitutionalism, the by-product order cannot get the approval of law and in such cases, the judicial hand must be stretched to it.

In the present case, when the Governor was not posted with material facts such as those indicated above, the Governor was apparently deprived of the opportunity to the order now impugned fringes on arbitrariness. What the Governor would have ordered if he were apprised of the above facts and materials is not for us to consider now because the Court cannot then go into the merits of the grounds which persuaded the Governor in taking the order of the Governor impugned in these proceedings is subject to judicial review within the strict parameters laid down in **Maru Ram case (AIR 1980 Sc 2147)** and reiterated in **Kehar Singh case (AIR 1989 SC 653)** we feel that the Governor shall reconsider the petition of Doodh Nath in the light of those materials which he had no occasion to know earlier."

Therefore the Supreme Court quashed the impugned order to enable the Governor of U.P. to pass a fresh order in the petition filed by the third respondent for remission of the sentence in the light of the observations made above.

●

29. SECTION 54 T.P. ACT AND SECTION 19 SPEFIFIC RELIEF ACT : BONAFIDE PURCHASER :
A.I.R 1998 SC 2028
JAGAN NATH VS. JAGDISH RAI

Plaintiff filed a suit for specific performance. The plaintiff entered into an

agreement for the purchase of house property on 28-9-1973. Subsequent agreement the defendant owner entered into an agreement with the third person. The evidence on record was that the subsequent purchaser was a bonafide purchaser for consideration, had no notice of the contract with the plaintiff. The High Court held that the plaintiff would not be entitled to relief of specific performance against subsequent purchaser.

●

30. ARTICLE 54 LIMITATION ACT, SECTION 10 CONTRACT ACT, SCH. FORM 47 AND 48 CPC (5 OF 1908) READ WITH SECTION 16 SPECIFIC RELIEF ACT :
AIR 1998 GAUHATI 92
MD. MOHAR ALI VS. MD. MAMUD ALI

Agreement for sale is a unilateral contract. It need not be signed by both parties. In a suit for specific performance by the party filed after inordinate delay of 16 years. Suit has to be dismissed on ground of delay alone. The High Court referring to Form No. 47 and Form NO. 48 held that plaintiff must specifically plead that he had approached the defendent to perform agreement and later had not done so and that plaintiff was always ready and willing to perform his part of contract.

The cases refered to in the judgment are ***Mrs Sandhya Rani Sarkar Vs. Sudha Rani Devi, A.I.R. 1978 SC 537, K.S. Vaidhyanandam Vs. Vairavan A.I.R. 1977 SC 1751*** and ***Abdul Kadar Vs. P.K. Sara Bai A.I.R. 1990 SC 682 followed.*** Please also refer to ***Pt. Prem Devi Vs. The D.L.P. Housing and construction A.I.R. 1968 SC 1355.***

In paragraph 14 of the judgment it was further held that,

> "In the latest decision it has been stated that the court in decreeing the suit for specific performance of contract must take into account that the suit must be filed within reasonable time and if the suit is filed beyond the reasonable time it should be dismissed on that ground alone in as much as it cannot be expected that the party will sit tight for all these years and in the meantime the character of the property is changed, value of the property will go up. All these factors must be taken into account as pointed out by the apex Court."

●

31. SECTION 14 (1) (A) AND SECTION 34 SPECIFIC RELIEF ACT :
A.I.R. 1998 SC 2046
ASHOK KUMAR VS. NATIONAL INSURANCE COMPANY LTD.

Contractual appointment and declaratory relief discussed by the Supreme Court in the said judgment. A declaration for continuation in service was sought. Appellant was appointed on certain terms and conditions. The appellant initially put on probation for a period of 12 months. One of the conditions also stated that unless a letter appointing the petitioner as probationary inspector is issued before the expiry of proposed period his service shall stand terminated. No

appointment letter was issued to the appellant before expiry of probation period nor initial period of probation was extended. Held that appellant was not entitled to declaration that he continues to be in service.

In instant case, appellant was appointed on certain terms and pursuant to such appointment he worked within the scope of such employment. Termination of his employment purportedly in terms of the same contract is challenged by him by praying for a declaration that such termination is invalid and therefore, he continues in the same employment. **Maintainability of a suit can not be adjudged from the effect which the decree may cause.** It can be determined on the basis of the ostensible pleadings made and the stated reliefs claimed in the plaint. The mere fact that a suit which is not maintainable under S. 14 of the Act is not to persist with its disability of non admission to civil courts even outside the contours of Chap-II of the Act, S. 34 is enough to open the corridors of civil Courts to admit suits filed for a variety of declaratory reliefs. S. 14 falls within the chapter and it points to contracts which are not specifically enforceable. Powers of the Court to grant declaratory reliefs are adumberated in S. 34 of the Act which falls under Chap. VI of the Act. It is well to remember that even the wide language contained in S. 34 did not exhaust the powers of the Court to grant declaratory reliefs.

●

32. DEFAMATION : LIMITATION ACT Ss. 12, 14, AND ARTICLE 75 OF THE LIMITATION ACT :
A.I.R. 1998 BOMBAY 244
B. SUBHASH VS. SANJHA JANSATTA

Sub-sections (2), (3) and (4) of S. 12 on its face have no application to the suits. As regards S. 14 it provides exclusion of time taken in bonafide prosecuting proceedings in Court without jurisdiction. The proceedings by way of complaint filed by the plaintiff before Press Council of India under the Press Council Act of India under the Press Council Act is a proceeding of entirely different nature having no semblenece of 'Criminal proceeding' as contemplated under S. 14. The damages sought by the plaintiff in the suit could not have been claimed in the complaint filed by him before Press Council of India nor was complaint filed for the said purpose. The complaint filed by the palintiff was not 'another civil proceeding' prosecuted by the plaintiff, even it be assumed with due deligence and in good faith, relating to the same matter in issue before the Court. The Press Council of India is neither Court nor the complaint is a civil proceeding as contemplated under S. 14 of the Limitation Act and therefore, the plaintiff cannot derive any advantage of the time consumed in prosecuting complaint before the Press Council of India.

●

33. DRUG CONTROL LAWS : LIMITATION READ WITH SECTION 468 AND 469 CR.P.C. COMMENCEMENT OF PERIOD OF LIMITATION :
A.I.R. 1998 SC 1919
***STATE OF RAJASTHAN VS.* SANJAY KUMAR**

Offence of manufacturing of adulterated, substandard, mis-branded

suprious drugs and/or storage distribution and sale of such drugs in contravention of the Act. Filing of complaint. Period of limitation starts only from the date of receipt of report of Public Analystand not from the date of taking of sample by Drug Inspector.

●

34. KEEPING SPACE OPEN FOR ROADS :
A.I.R. 1998 ALL. 251
TOWN AREA COMMITTEE VS. S.P. BANDA

In para 5 of the judgment it is said that,

> "Today there should be no doubt in the mind of any public authority, local body, State Government or the Government of India that the roads of the nation are to be kept absolutely free without obstruction and only for the purpose for which a road or a highway has been carved out. Obstructing public roads, the like of which the Town Area Committee is doing is the negation of planning."

●

35. LAND ACQUISITION ACT : SECTIONS 11-A AND 16
A.I.R. 1998 ALLAHABAD 254
GAINDI DEVI VS. STATE OF U.P.

Limitation for passing of award is to be counted from the last date of the publication of declaration under Section 6 of the Act. In the present case the Notification was published in the official Gazette on 28-7-1986. In one newspaper on 23-8-1986 and in another newspaper on 24-8-1998. Limitation is to be counted or calculated from 24-8-1986. Delay in making claim for interest not tenable when the claimant had delayed take over of the possession.

No party can derive advantage of his own acts.

●

36. AWARD : SECTION 17.23, AND 25 REGISTRATION ACT AND SECTION 15 LIMITATION ACT :
A.I.R. 1998 DELHI 257
MADHUKAR GOEL VS. M.S. GOEL

Where the arbitration award involves immovable properties while making rule of the Court Award is required to be registered before making rule of Court. Petition for filing award in Court and for sending it for registration within period for presenting award for registration. Award filed in Court in response to the petition. Award in the custody of Court therefore a prayer in petition for sending award for registration was under consideration. Another petition for sending award for registration two years after passing of award. Can be allowed as period on which award received by Court till its return for registration is to be excluded.

●

विविध विधि सुभाषित

1. **केवलं शास्त्र माश्रित न कर्त्तव्यों विनिर्णयः।**
   युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः नतः प्रजायते।।

   (वृहस्पति स्मृति)

   शास्त्र के शब्दों के आधार पर से मात्र प्रकरण में विनिश्चय नहीं करना चाहिए। यदि तथ्य एवं परिस्थितियों को समझे बिना निर्णय किया जाता है तो इससे न्याय की असफलता होगी।

2. **पक्षपाताधिरोपस्य कारणनि च पञ्च वै।**
   रागलोभ भय द्वेषा वादिनोश्च रहश्श्रुति।।

   शुक्र नीति

   न्यायाधीश पर पक्षपात करने का आक्षेप निम्न पांच कारणों से लग सकता है। यथा –

   1. एक पक्ष के प्रति प्रेम 2. लोभ (लालच) 3. भय (डर) 4. द्वेष (एक पक्ष के प्रति दुर्भावना) 5. प्रकरण में किसी पक्षकार के साथ गोपनीय रूप से मिलना व प्रकरण के विषय में चर्चा करना।

3. **न काल हरणं कार्य राजा साक्षि प्रभाषणे।**
   महान दोषो भवेत्कालाद् धर्मव्या वृत्ति लक्षणः।।

   कात्यायन स्मृति

   राजा (न्यायालय) को साक्षियों का परीक्षण करके प्रकरण का निर्णय त्वरित करना चाहिए। विलंब के परिणाम स्वरूप न्याय असफल होकर गंभीर दोष बन जाता है।

4. Justitia nec differenda nec neganda est:
   Justice is not to be denied or delayed.
   न्याय प्राप्त करने से किसी को वंचित न करो न ही न्यायदान में विलंब करो।

5. **पिताऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहित।**
   नादण्डयो नाम राजोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिस्टति।।

   मनुस्मृति

   राजा (न्यायाधीश) को किसी भी अपराधी को दंड दिये बिना नहीं छोड़ना चाहिए, चाहे उसके साथ कोई भी संबंध क्यों न हो। केवल न्याय करना चाहिए।
   Justitia non novit patrem nec matrem, solam veriatem spectat justitia.
   Justice knows not father nor mother, Justice looks at truth alone.

COMPULSORY RETIREMENT, TERMINATION, SUSPENSION AND RETIREMENT THROUGH SCREENING OF J.OS.

Following officers in the Higher & Lower Judicial Service have been Retired Compulsorily w.e.f. the dates mentioned against their names, as per decision of the Full Court Meeting held on 7-8-98 :

1. Shri S. L. Shakya,, III ADJ, Alirajpur w.e.f. 27-8-98 AN
2. Shri R. G. Ghatiya, II ADJ, Alirajpur w.e.f. 28-8-98 FN
3. Shri N.K. Goel, Civil Judge, Class I & ACJM, Narsingarh w.e.f. 2-9-98 AN.
4. Shri R. B. Dohre, II ADJ, Seoni w.e.f. 26-8-98 AN
5. Shri R. S. Thakur, Civil Judge, Class I & ACJM, Sausar w.e.f. 28-8-98 AN
6. Shri S. K. Audhia, ADJ (Under Suspension H.Q. at Durg) w.e.f. 25-8-98 AN.
7. Shri Amar Lal Joshi, III Civil Judge Class I, Raipur 31-8-98 AN.
8. Shri Satyendra Kumar Gupta, II ADJ, Indore w.e.f. 3-9-98

●

LIST OF JUDICIAL OFFICERS WHO HAVE BEEN COMPULSORILY RETIRED AND REMOVED FROM THE SERVICES, AS A RESULT OF DEPARTMENTAL ENQUIRY.

NO.	NAME OF JUDICIAL OFFICERS	PUNISHMENT
1.	Shri A.K. Tripathi, Ex.Civil Judge Class II Lakhnadon District Seoni.	Removed from service by order of Govt. of M.P. dated 20.3.98.
2.	Shri Shrikant Choudhary, Ex. Civil Judge Class I Bijawar District Chhatarpur.	Compulsorily retired by order of Govt. of M.P. dated 26.5.98.
3.	Shri B. R. Verma, Ex. Civil Judge Class I Dhar.	Removed from service by order of Govt. of M.P. dated 26.5.98.
4.	Shri Eugene Lucas, Ex. Civil Judge Class I Bagli District Dewas.	Removed from service by order of Govt. M.P. dated 26.5.98.
5.	Shri I. Lakde, Ex. Civil Judge Class II Dantewara District Bastar.	Removed from service by order of Govt. of M.P. dated 26.5.98.

●

LIST OF OFFICERS WHO HAVE BEEN RETIRED AFTER SCREENING ON ATTAINING THE AGE OF 58 YEARS DURING 1998 (AS ON 21.8.98)

1.	Shri K.K. Gupta, O.S.D. High Court of M.P. Bench Gwalior, Gwalior.	W.e.f. 1.8.98 A.N.
2.	Shri Naththi Lal Jatav, XV Additional District and Sessions Judge, INDORE.	W.e.f. 7.8.98 A.N.

●

LIST OF JUDICIAL OFFICERS WHO ARE UNDER SUSPENSION.

1.	Shri A.K. Goyal, A.C.J.M. Sakti District Bilaspur under suspension.	Under suspension w.e.f. 20.4.98.
2.	Ku. Kumud Bathma, Civil Judge Class II Ujjain under suspension with Head Quarters at Ujjain.	Under suspension w.e.f. 2.3.98.
3.	Shri P. S. Rawat, A.C.J.M. Sehore	Under suspension w.e.f. 8.4.98.
4.	Shri R. R. Bhardwaj, the then Civil Judge Class I Goharganj, District Raisen presently posted as Civil Judge Class I and J.M.F.C. Sironj, District Vidisha.	Under suspension w.e.f. 27.7.98.
5.	Shri J.K. Varma, A.D.J. Bilaspur	Under suspension w.e.f. 17.9.98.

●

चरित्र

- यथार्थ के साथ जीवन का आदर्श भी होना चाहिए।
- जीवन के उदात्त मूल्यों की स्थापना अपने ही भीतर करना आवश्यक है।
- मनुष्य केवल पैसा बनाने (ढ़ालने) की मशीन नहीं है। (स्वयं का चरित्र भी ढ़ाल सकता है।)

मुनि क्षमासागर जी

OPINIONS AND VIEW EXPRESSED IN THE MAGAZINE ARE OF THE WRITERS OF THE ARTICLES AND NOT-BINDING ON THE INSTITUTION AND FOR JUDICIAL PROCEEDING.